विषय-सूची

प्रह्लाद

(त्रैमासिक पत्रिका)

वर्ष १९८१ अंक ३ : ४

वैदिक सूक्त

संगच्छध्वं संवदध्वंसं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते ॥

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो ।
पूर्वजों की भांति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो ॥

समानी व आकूति : समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वोमनो यथा व : सुसहासति ॥

हों सभी के मन तथा संकल्प अविरोधी सदा ।
मन भरें हो प्रेम से जिससे बढ़े सुख सम्पदा ॥

('ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त' से)

महर्षि दयानन्द की जय

—वीरेन्द्र

[प्रस्तुत लेख के लेखक एक उच्चकोटि के विद्वान होने के साथ-साथ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) के कुलाधिपति एवं पंजाब के दैनिक वीर प्रताप के प्रधान सम्पादक हैं।] --सम्पादक

१८ अक्तूबर को दिल्ली में विराट हिन्दू सम्मेलन हुआ है। इस में २ लाख हिन्दू शामिल हुये। ५ लाख हुए या १० लाख यह एक विवादास्पद प्रश्न है लेकिन यह एक निर्विवाद वास्तविकता है कि हिन्दुओं का इतना बड़ा सम्मेलन इससे पूर्व कभी नहीं हुआ कुंभ के समय हरिद्वार में और सूर्य ग्रहण से समय कुरुक्षेत्रमें हिन्दू लाखों की सख्या में जमा हो जाते हैं लेकिन इनके सामने समय-समय पर जो समस्याएं आती रहती हैं उन पर विचार करने के लिए और उनका समाधान तलाश करने के लिये इतने हिन्दू इससे पूर्व एक जगह पर इकट्ठे नहीं हुए। मीनाक्षीपुरम् और अन्य स्थानों पर हिन्दू हरिजनों का जो इस्लामीकरण किया गया है उसने सारे हिन्दू समाज को झझोड़ कर रख दिया है। इस नए आंदोलन का मुकाबला कैसे किया जाए, इस पर विचार करने के लिये यह विराट सम्मेलन किया गया है और हमें यह मानना पड़ेगा कि यह एक सफल सम्मेलन था। इसके माध्यम से हिन्दुओं का ध्यान उन कमियों की ओर दिलाया गया है जिनकी वजह से वह कमजोर हो रहा है। विशेष रुपसे छूआछूत की बीमारी जो हिंदू को अन्दर ही अन्दर घुन की तरह खाए जा रही है।

मैंने इस विराट सम्मेलन की सारी कारंवाई पढ़ी तो मेरे मुंह से अनायास निकला "महर्षि दयानन्द की जय।" जो कुछ हिन्दूसमाज के बड़े—बड़े धार्मिक नेता आज कह रहे हैं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक सौ वर्ष पहले कह दिया था। शताब्दियों के बाद इस देश में दयानन्द के नाम से एक योगी पैदा हुआ था। जिसने हिन्दुओं को चेतावनी देते हुए कहा था कि यदि छूआछूत की बीमारी दूर न की गयी तो यह हिन्दू समाज को ले डूबेगी। इस देश ने उस योगी की भविष्य-वाणी को सुना अनसुना कर जो कुछ उन्होंने कहा था उसके कारण उन पर पत्थर

फेंके गए थे। कहा गया कि यह व्यक्ति हिन्दू धर्म की पवित्रता को खत्म कर रहा है। बड़े-बड़े शंकराचार्य और बड़े-बड़े मठधारी लठ लेकर दयानन्द के पीछे पड़ गये थे। इनकी जुबान बन्द करने की कोशिश की गयी और अकबर इलाहाबादी के शब्दों में कई कट्टर पंथी उन दिनों कहते थे और बाद में भी कहते रहे :—

'अकबर नाम लेता है खुदा का इस जमाने में'

लेकिन दयानन्द जी ने न पत्थरों की परवाह की न लाठियों की और न उन गालियों की जो उनको जिंदगी मे उन्हे दी गयी। वह पूर्ण निडरता से अपनी राह पर चलते गए और कहते रहे कि छूआछूत खत्म होनी चाहिये, परम पिता परमात्मा सब को एक जैसा पैदा करते है और वह सब को एक नजर से देखते हैं। इसलिये जन्म के आधार पर किसी के साथ भेदभाव करना सब से बड़ा पाप है। कोई व्यक्ति अच्छा है या बुरा इस का फैसला उसके कर्म के आधार पर होना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार एक ब्राह्मण के घर पैदा हुआ एक व्यक्ति शूद्र बन सकता है यदि इसके कर्म अच्छे हैं। भावार्थ यह कि महर्षि दयानन्द के अनुसार कौन अच्छा है या कौन बुरा, कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र इसका निर्णय जन्म के आधार पर नहीं बल्कि कर्म के आधार पर होना चाहिए।

अपने देशवासियों को यह संदेश देकर महर्षि दयानन्द इस संसार से चले गये लेकिन जाने से पहले आर्यसमाज कायम कर गये और इसके जिम्मा काम लगा गए कि वह उस समय देश में जन्म पर आधारित छुआछूत को खत्म करने का बीड़ा उठाए। आर्यसमाज ने प्रथम चरण में यह काम बहुत जोर-शोर से किया, लेकिन कुछ देर के बाद यह ढीला पड़ गया। और ऐसे हालात पैदा हो गये कि आर्यसमाज के बारे भी कहा जाने लगा :–

"जमाना बड़े शौक से सुन रहा था
हमी सो गए दास्तां कहते-कहते।"

जहां आर्य समाज ने इस आंदोलन को छोड़ा था। महात्मा गांधी ने उसे वहीं से शुरू किया जिन्हें पहले महर्षि दयानन्द ने और बाद में आर्य समाज ने दलित का नाम दिया था गांधी जी ने उन्हे हरिजन का नाम दे दिया। आर्य समाज दलित उद्धार कर रहा था। महात्मा गांधी ने हरिजन – उद्धार शुरू कर दिया। आर्य

समाज के दलित उद्धार आंदोलन में दोनों तरह के पिछड़े हुए लोग शामिल थे, धार्मिक रूप में पिछड़े हुए भी और आर्थिक रूप में पिछड़े हुए भी। गांधी जी ने अपने हरिजन आंदोलन को एक राजनीतिक रंगत दे दी और इसके साथ गांधी जी और डाक्टर अम्बेडकर के बीच एक नया संघर्ष शुरू हो गया। हमारे दलित भाई हरिजन रूप में एक अलग वर्ग बन गये। इन्हें जो नए राजनीतिक अधिकार मिल गये थे उनके कारण वह अपने आपको हिन्दुओं से अलग समझने लगे। इनमें बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की थी जो आर्थिक रूप में पिछड़े हुए थे। उनकी निर्धनता नाजायज फायदा उठाने के लिये ईसाइयों और मुसलमानों ने इनका ईमान खरीदना शुरू कर दिया। करोड़ों रुपया अमेरिका, बितानिया और कैनेडा व जर्मनी से ईसायत के प्रचार के लिये और अरब देशों से इस्लाम के प्रचार के लिये आने लगा। एक इस्लामी देश कुवैत के एक समाचारपत्र ने यह रहस्योद्घाटन किया है कि एक ऐसी योजना बनाई गई है कि भारत में इतने हरिजन मुसलमान बना दिये जाएं कि आगामी बीस वर्षो में भारत में हिन्दू जो आज बहुमत में हैं अल्पसंख्या में हो जाये। इसका पहला नमूना तमिलनाडू के एक कस्बा मीनाक्षी-पुरम में पेश किया गया। जब इस कस्बे के तीन हजार हरिजनों को मुसलमान बना दिया गया। यह खतरे की घंटी थी लेकिन इसे पुन: सुनने वाली आर्य समाज ही थी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का एक प्रतिनिधिमण्डल मीनाक्षीपुर पहुंचा, उसने वहां सारी परिस्थित का जायजा लिया और एक तरफ भारत सरकार को झंझोड़ा कि वह देखें कि विदेशों से आया रुपया कितनी तबाही मचा रहा है, दूसरी तरफ अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि यदि वह सोये रहे तो न उनका धर्म रहेगा और उनकी संस्कृति। इसके साथ २६ जुलाई को सारे देश में आर्य-समाज की ओर से धर्मरक्षा महाभियान शुरू किया गया और देशवासियों का ध्यान छुआछूत की इस लानत की ओर दिलाया गया जिसकी ओर एक सौ वर्ष पूर्व महर्षि ने हमारा ध्यान दिलाया था।

जो धर्म रक्षा महाभियान आर्यसमाज ने २६ जुलाई को शुरु किया था अब उसका दूसरा रूप विराट हिन्दू सम्मेलन के रूप में १८ अक्टूबर को दिल्ली में देखने को मिला है। इस सम्मेलन में हिन्दू समाज के बड़े-बड़े धार्मिक नेता शामिल हुए और सबने एक आवाज में कहाकि छुआछूत की यह लानत खत्म होनी चाहिए। यदि यह खत्म न हुई तो हिन्दू समाज खत्म हो जाएगा अर्थात् जो कुछ एक सौ वर्ष पहले महर्षि दयानन्द ने कहा था आज वह सारा देश कह

रहा है, उस समय महर्षि के कुछ देशवासियों ने उन पर पत्थर फेंके, आज उनके ही देशवासी उनकी स्मृति में उन पर फूल चढ़ा रहे हैं। किसी युग में शंकराचार्य दिग्विजय के लिए निकले थे। १८ अक्टूबर को दिल्ली का विराट सम्मेलन महर्षि दयानन्द की दिग्विजय थी। काश: वह लोग जिन्हें आज हरिजनों की चिन्ता हो रही हैं उन्होंने इससे पहले दयानन्द जी की आवाज सुनी होती। लेकिन सुबह का भूला शाम को घर आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते। अब भी यदि हिन्दू समाज यह समझ ले कि छुआ छूत की यह लानत खत्म किये बगैर उनका कल्याण नहीं तो हिंदू समाज की सोई हुई फिर जाग पड़ेगी। एक सौ वर्ष पहले योगी दयानन्द ने जो भविष्यवाणी की थी और जो रास्ता हमें दिखाया था, एक सौ वर्ष के बाद वह शतप्रतिशत सही सिद्ध हो रहा हैं उन्होंने कहा था कि जीवित रहना चाहते तो छुआछूत को दफना दो, आज भी इसका सन्देश यह ही कह रहा है कि हिन्दुओं यदि जिन्दा रहना चाहते हो तो छुआछूत को खत्म कर दो।

* * *

भाषा-सम्प्रेषण : एक समस्या

ले० डा० भगवान देव पाण्डेय

एम० ए०; पी-एच० डी०

प्रवक्ता हिन्दी-विभाग

भाषा और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। समाज का प्रत्येक प्राणी भाषा से जुड़ा हुआ है। भाषा से इतर समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और न बिना भाषा के समाज का कोई कार्य ही चल सकता है। भाषा स्वयं गतिशील एवं प्रेरक है। वह कवि, लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार आदि साहित्यिकों, अध्यापकों और दार्शनिकों के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर आदि के लिए भी समान रुप से उपयोगी है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण भाषा का क्षेत्र दिनोंदिन विकसित होता जा रहा है।

भाषा का तात्पर्य होता है-समाज के द्वारा अर्जित ऐसी सामाजिक वस्तु जो क्रमबद्ध सार्थक ध्वनियों की राशि हो। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वतंत्र तथा भिन्न कोई न कोई व्यवस्था होती है। भाषा भावों की वाहक होती है क्योंकि भावना उसके माध्यम से प्रकट होती है अर्थात् भावों के अनुसार ही भाषा का स्वरूप निर्धारित होता है। एक सफल कवि अथवा लेखक की भाषा वेगवती सलिला की भांति प्रभावित दिखाई देती है जो अपने कूल-कछारों को चूमती, रसमय करती चलती है पर भाषा भावों का आवरण नहीं बन जाती और न वह उनके पीछे ही रह जाती है बल्कि वह अपने सहज माधुर्य एवं प्रसाद गुणों से भरकर भावों को लेकर चलती है। भाषा की व्यंजना शक्ति तथा ध्वन्यात्मकता के साथ उसमें चित्रमयता तथा मूर्तिमयता का भी समावेश अनिवार्य है। भावों की साकारता भाषा की चित्रमयता पर निर्भर है।

भाषा का सर्वाधिक व्यवहार सामाजिक दृष्टि से भाव-सम्प्रेषण में होता है। व्यक्ति अपने भावों, विचारों का आदान-प्रदान इसीसे सम्पन्न करता है जिससे व्यक्ति और समाजमेंएकता की सृष्टि होती है, भाषा सामाजिक उद्बोधन है। समाजमें जागरूकता लाना चेतना उत्पन्न करना,कर्तव्य मार्ग पर प्रवृत्त करना,सहयोग की भावना जागृत

करना आदि कार्यों को भाषा के माध्यम से ही उद्बोधित किया जाता है।

भाषा विश्व का सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। महर्षि भर्तृहरि का कथन है कि भाषा ही ज्ञान को दीपित करती है।

वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वाक्यपदीय १–१२५

भाषा समन्वय सूत्र है जो जगत के प्रत्येक भाषा,स्वमाभाषा–भाषी को एकता के सूत्र में पिरोए रहती है, जिससे वे भिन्न हुए भी एकत्व की अनुभूति करते हैं।

भाषा सर्वशक्ति सम्पन्न होती है। यह नवीन सृष्टि की रचना करने में भी सक्षम है। यह निष्प्राण में चेतना और हतप्रभ में क्रान्ति ला देती है। इस प्रकार यह सर्वव्यापक विराट् और विश्वकर्मा है। इसका प्रवाह अविच्छिन्न है। भाषा का प्रवाह मानव सृष्टि के साथ-साथ बिना रुके निरन्तर चल रहा है। जिस प्रकार नदी की धारायें निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं और उसमें कहीं रुकावट या विच्छेद नहीं होता है उसी प्रकार भाषा भी नित नूतन सरस रुप में प्रवाहमान रहती है और जिस प्रकार नदी की गतिशीलता नदी के जल को पवित्र एवं शुद्ध रखती है, उसी प्रकार भाषा की गतिशीलता भी उसको पवित्र रखती है विद्वत् वर्ग मनन एव चिन्तन के द्वारा भाषा को परिष्कृत करते रहते हैं।

भाषा में निरन्तर संशोधन और परिष्करण की प्रक्रिया चलती रहती है अत–एव यह पुरानी होने पर भी नवीन, वृद्धा होने पर भी नवयौवना बनी रहती है। व्यक्ति समाज से उठना – बैठना वेष भूषा, खाना–पीना जिस प्रकार से सीखता है उसी प्रकार भाषा भी सीखता है। भाषा मनुष्य समुदाय का अक्षय कोष है। यही मानवता की पूंजी है, मानव ने सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक जो कुछ सोचा, समझा देखा और अनुभव किया है, उसका ही संकलन भाषा के रुप में विद्यमान है भाषा को समाज से, समीपस्थ वातावरण से, सहयोगियों एवं साथियों से सीखा जाता है। अपनी– अपनी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार मनुष्य बाल्यकाल में भाषा को अर्जित करता है। यह मानव जीवन के तुल्य जीवित सत्ता है। जिस प्रकार मानव में शैशव, यौवन और वृद्धत्व आते हैं, प्रतिक्षण परिवर्तन होता है भाषा भी एक जीवन व्यतीत कर नया स्वरुप धारण करलेती है। भाषा के जीवन में भी शैशव,यौवन और वृद्धत्व आते हैं: संस्कृत से हिन्दी तक आने में संस्कृत ने कितने रुप

बदले है, यह भाषा – विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात है। भाषा में स्थिरता या स्थायित्व उसके विनाश क्रम तथा परिवर्तन एवं नूतनता उसके विकास और गतिशीलता के चिन्ह हैं।

साहित्य चाहे उच्चारित रूप में प्राप्य हो अथवा लिखित रूप में प्रस्तुत हो, सुन्दर और उल्लेखनीय उच्चार-खण्डों का समूह है। साहित्य के विद्यार्थी किसी विशिष्ट व्यक्ति के उच्चार-खण्डों का निरीक्षण करते हैं और उनका ध्यान अर्थ विचार तथा रुपों की असामान्य विशेषताओं पर अधिक होता है। लिखित भाषा के अध्येता की रुचि इससे अधिक विस्तृत है और वह पढ़ी हुई वस्तु की पृष्ठभूमि और सांस्कृतिक महत्ता भी समझना चाहता है तथा एक उस उच्चरित भाषा का भाषा-वैज्ञानिक सभी व्यक्तियों के उच्चार-खण्डों को एक रुप से देखता है। एक प्रमुख लेखक की व्यक्तिगत विशेषताओं का, जिनसे उसकी भाषा उस काल तथा स्थान की सामान्य भाषा से भिन्न होती है, उस भाषा वैज्ञानिक के लिए उतना ही कम महत्व है, जितना कि एक व्यक्ति की भाषण शैली का दूसरे व्यक्ति की भाषण-शैली से भिन्न होने का, लेकिन सभी वक्ताओं में मिलने वाली सामान्यताओं पर उसका सबल आग्रह है।

कुछ ऐसी परिस्थितियां अवश्य हैं जिनमें परम्परागत शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति भाषा-विषयक तथ्यों पर विचार विवेचन करता है। कभी कभी शुद्धता, अशुद्धता के प्रश्न पर विवाद खड़ा हो जाता है-कि भाषा का अमुक रुप शुद्ध है या अमुक रुप। ऐसे स्थानों पर उसके विवेचन प्रायः दृढ़बद्ध परिमत का अनुसरण करते हैं। इसके लिए या तो वह लेखन परम्परा की ओर देखता है या फिर आप्तता का आश्रय लेता है। वह यह विश्वास करता है कि एक प्रकार का भाषण प्रयोग निसर्गतः सही है और दूसरा गलत पर इनमें कौन सा सही है और कौन सा गलत का निर्धारण का व्याकरण अथवा कोषों के रचयिता ही निर्धारित कर सकते हैं।

भाषण की शुद्धता–अशुद्धता कुछ सामाजिक स्थितियों का परिणाम है। भाषा–वैज्ञानिक अन्य भाषा वैज्ञानिक तथ्यों की तरह इनका भी निरीक्षण करता है। वक्तागण किसी भाषण-रुप को शुद्ध अथवा अशुद्ध मानते हैं. यह तथ्य भाषिक रुपों के सम्बन्ध में भाषा वैज्ञानिक द्वारा संगृहीत तथ्यों का अंगमात्र है- जिसको कि भाषा वैज्ञानिक निष्पक्ष भाषिक रुपों में देखता है। यह उसके कार्य का अंग है कि वह मालूम करे कि किन परिस्थितियों में वक्ता किसी रुप को शुद्ध या अशुद्ध कहते हैं और ऐसा

क्यों कहते हैं, का भी पता लगायें। लेखन, साहित्य, लिखित भाषा तथा शुद्धाशुद्ध भाषिक रूपों पर विचार करने वाले अध्येताओं को, यदि वे निरन्तर धैर्यपूर्वक तथा सही प्रणाली से कार्य करते रहें हैं, कुछ प्रयासों के बाद यह अवश्य अनुभव होता है कि यह अच्छा होता कि वे प्रथम भाषा-सम्बन्धी जानकारी कर लेते तत्पश्चात् ऐसी समस्याओं पर विचार करते।

भाषा किसी कार्य–विधि की इकाई नही है, वरन् बहुत सी गतिविधियों से मिलकर बनती है और इनका वृत्तियों की एक अत्यन्त जटिलता में मिलकर एक होना व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन में पुन: प्राप्त उद्दीपनों पर निर्भर है। वे असामान्य स्थितियां जिनमें भाषण विकृत रूप से निकलना है, कुछ साधारण गलत समझनों अथवा विकारों की सूचक हैं और भाषा की विशेष यांत्रिकी पर कोई प्रकाश नहीं डालती।

एक वक्ता के सम्मुख उस समय एक भाषाई समस्या आती है जब कभी वह ऐसे परिवर्त्य रूपों को जानता है जो कि लक्षणों से भिन्न है। अपने भाषण के प्रति झिझक एक जन-सामान्य गुण है। किसी अजनबी भाषा अथवा स्थानीय बोली के अध्ययन में लगे पर्यवेक्षक को अपने सूचकों से प्रायः ऐसे भाषण रूप मिलते है जो कि सूचक अपने लोगों से बोलने में प्रयुक्त नहीं करते। सूचक अपने लोगों से बोलने वाले रूपो को कुछ हीन मानता है और अन्वेषक को वह रूप नही बताता है। इस प्रकार अन्वेषक ऐमी भाषा अंकित करने लगता है जो कि उसकी अभीष्ट भाषा नहीं है।

अपनी बोली को संशोधित करने की प्रवृत्ति सार्वभौमिक है किन्तु सशोधन सामान्यतया उन रूपों को अपनाने से होता है जिन्हे व्यक्ति अपने सहकारियो से सुनता है। व्याकरणिकों के मतों का विशिष्ट भाषण रूपों को प्रतिस्थापित अथवा निष्कासित करने में कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। वे साक्षर लोगो मे यह अवश्य भावना जगा देते है कि वे रूप जो वक्ता ने नहीं सुने है उनकी अपेक्षा जो वस्तुत: सुने और कहे हैं, अधिक शुद्ध हैं।

भाषा–सरचना सम्बन्धी कठिनाई का वास्तविक कारण अनियमित वर्तनियां हैं। इनको दूर करने के लिए दो विधियों को अपनाया जा सकता है। एक तो यह कि बच्चों को ध्वन्यात्म प्रति लेखन पढना सिखाया जाये और जब आवश्यक पठन अभ्यास हो जाए तब उन्हें परम्परागत लेखन सिखाया जाए। द्वितीय यह कि उन लिपिचिन्हों से प्रारम्भ किया जाए जिनका केवल एक ही स्वनिमीय मूल्य है और अन्य लिपि चिन्ह तब तक न सिखायें जायें जब तक कि प्रारम्भिक स्थिर न हों जायें अथवा उन्हें

पूर्व स्थिति में कुछ तर्क सगत सुनियोजित रीति से सिखाया जाये। इसके अतिरिक्त प्रक्रिया रीति, प्रस्तुतिक्रम और विविध गौण विधियां कुछ परीक्षणों के बाद निर्धारित की जा सकती हैं, परन्तु व्यक्ति को यह ज्ञान प्रारम्भ से ही होना चाहिए कि वह क्या करने जा रहा है।

बहुत से विद्यार्थियों के लिए प्राचीन तथा आधुनिक भाषा सीखने का लक्ष्य भाषा का पढ़ना है। ऐसी परिस्थिति बहुधा भद्दे शिक्षण का एक बहाना बनती है। जो विद्यार्थी भाषा की ध्वनि नहीं जानता वह पढ़ने में कठिनाई अनुभव करता है। सौंदर्य भावना के घटक के अतिरिक्त ध्वन्यात्म—प्रवृत्तियों का स्पष्ट समुच्चय चाहे वह सही हो या गलत शुद्ध पठन के लिये अत्यावश्यक है। शिक्षा के भाषाई चरणों में यह अनिवार्य है कि व्यावहारिक उपयोगिता सम्मुख रखी जाए। समस्या यहां भाषाई संरचना की नहीं अपितु व्यावहारिक प्रयोग की होती है।

भाषा में परिवर्तन लघुतर तथा अपेक्षाकृत अधिक नियमित रूप से संरचित शब्दों की ओर प्रवृत्त होता है। ध्वनि- परिवतन द्वारा शब्द लघ्वीकृत होते हैं तथा सादृश्य—परिवर्तन के द्वारा अनियमित व्युत्पन्न रूपों के स्थान पर नियमित रूप आ जाते हैं। इस प्रक्रिया की गति तथा संगत दिशा, स्थान और काल के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है।

भाषा के नाम पर जितनी भावुकता, चेतना और अनुदारता आज के युग में वर्तमान है इतनी पहले कभी नहीं रही। आज हमारी इकाई तोड़ने के लिये हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, गुजराती, बंगला, उड़िया आदि का सूक्ष्म भेद दिखाकर अनेकता को उभाड़ा जा रहा है। हिन्दी के सम्बन्ध में ऐसी भ्रांतियां ऐसे लोग फैलाते आ रहे है जिनका हिन्दी से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यदि यह माना जाए कि हिन्दी की शब्दावली अभी मँजी नहीं है तो यह बात सभी भाषाओं के इतिहास पर घटित होती है।

आज प्रादेशिक भाषा की उन्नति के नाम से देश में वैमनस्य और प्रान्तीयता का विकास हो रहा है, जिससे हिन्दी का मोह पीछे रह गया है, प्रान्तीय भाषा और साहित्य के संरक्षण की चिन्ता सर्वोपरि हो गई है। हिन्दी सह–अस्तित्व में विश्वास रखती है, अतः हिन्दी के सहयोग से प्रादेशिक भाषाओं को अधिक सुविकसित होने की संभावनाएं मिलेंगी।

मैकाले ने भारतीय भाषाओं को दीन – हीन और दरिद्र कहकर अंग्रेजी की स्थापना की थी। इसके पीछे उनकी साम्प्रदायिक और साम्राज्यवादी दुर्भावना

छि‌ती थी। विश्व में अंग्रेज सबसे अधिक साम्प्रदायिक और साम्राज्यवादी होते हैं। इसका प्रम ण वर्तमान समय में ब्रिटेन में व्याप्त दंगा तथा ब्रिटेन की प्रधानमत्री श्रीमती म ग्रेट थ्रैचर की पिछले दिनों हुई भारत यात्रा के समय दिया गया वक्तव्य है। हिन्दी कभी भी दरिद्र न तो थी और न है। एक तो यह संस्कृत, पालि और प्राकृत की उत्तराधिकारिणी होने के कारण उन सबकी भाषागत उपलब्धियों से सम्बद्ध है, दूसरे उसमें नये–नये संस्कारों, विचारों और अभिव्यक्तियों को ग्रहण करने की क्षमता है तथा साथ ही इसमें शब्द निर्माण की अद्भुत शक्ति है।

हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राय: लोगों का निम्न आक्षेप है—

१– हिन्दी के लिंग भेद में संज्ञा, विशेषण और क्रिया तक में स्त्रीलिंग-पुलिंग का होने के कारण यह अत्यन्त जटिल है;

२– क्रियापदों के वचन, भेद और वाच्यभेद से नाना विशिष्टरूप हो जाते है,

३– संज्ञा रूपों में कर्ता कारक का (अविकारी) रूप और अन्य कारकों का (तिर्यक या सम्बन्धकीय) रूप भिन्न भिन्न होता है,

४– नागरी लिपि भ्रष्ट और असुन्दर है, शब्दावली मिश्रित है।

५– हिन्दी· लेखन- शैली में दोष है—जगत्, भगवान्, परिषद् आदि में हलन्त चिन्ह हो कि नहीं। चाहिए, दीजिए आदि को - ए- से लिखा जाय कि– ये-से, ण और ड़ के प्रयोग में भी मतभेद है। परसर्ग को संज्ञा, सर्वनाम के साथ मिलाकर लिखना चाहिए अथवा अलग, समास–युक्त शब्दों के बीच में हाइफन लगायें या उन्हें संयुक्त लिखें या अलग–अलग? अनुस्वार कहां लिखें ? अनुनासिक– चिह्नों तथा अक्षरों का प्रयोग कहां करें ?

६– 'ने' का प्रयोग तथा बर्तनी की एक रूपता आदि की समस्या,

७– हिन्दी में 'मेरे को' 'मेरे से' 'करा' आदि प्रयोग प्रचलित हैं, इन्हीं को वस्तुत: सामान्य मानकर वाक्य - प्रयोग करना चाहिए...आदि।

वस्तुत: हिन्दी के सामने इस प्रकार की कोई समस्याएं नहीं हैं। प्रत्येक भाषा की प्रकृति भिन्न भिन्न हुआ करती है. जिससे कि अपनी भाषा से भिन्न भाषा में लोगों को विचित्रता लगने लगती है। ऊपर गिनाए गए व्याकरण, लिपि, शब्दावली आदि के दोष हिन्दी के लिए न तो दोष हैं और न समस्या। वैज्ञानिक दृष्टि से नागरी लिपि सबसे अधिक खरी उतरती हैं। संस्कृत के शब्दों को

शुद्ध संस्कृत व्याकरण के अनुसार लिखना चाहिए। अनुस्वार तथा चन्द्रबिन्दु का व्यवहार भी समझकर करना चाहिए जिससे उच्चारण की शुद्धता बनी रहे। ए तथा ये लिखने में कोई समस्या नहीं है। परसर्ग स्वतंत्र शब्द हैं अतः संज्ञा-सर्वनाम से पृथक लिखे जा सकते हैं। समासों में हाइफन आदि लगाने के स्पष्ट नियम हैं। उन्हें समझ लेने की आवश्यकता है।

इस प्रकार यदि उपर्युक्त समस्याओं का अवलोकन कर लिया जाय तो भाषा सम्प्रेषण सम्बन्धी समस्या तथा अन्य समस्याएं स्वतः हल हो सकती हैं। इसके लिए श्रम, लगन एवं सहयोग की आवश्यकता है।

* * *

प्रगतिवाद काव्यधारा

ले० छात्र कमलापति शास्त्री एम० ए० (हिन्दी)
द्वितीय वर्ष

डा० नामवर सिंह ने लिखा है–" छायावाद के गर्भ से सन १९३० के लगभग नवीन सामाजिक चेतना से युक्त साहित्य धारा का जन्म हुआ उसे सन् १९३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गयी और तब से इस नाम के औचित्य-अनौचित्य को लेकर काफी वाद– विवाद होने के बावजुद छयावाद के बाद की प्रधान साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से ही पुकारा जाता है।

वास्तव में प्रगतिवाद का सन् १९३६ से ही माना जाता है। १९३६ में ही प्रोग्रेसिव राइटर्स ऐसोसियन की शाखा हिन्दुस्तान में खुली डा०मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर के उद्योग से हो सस्था खुली। लखनऊ में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। तभी से प्रगतिशील साहित्य का प्रचार हुआ। कालक्रम से यही प्रगतिवाद हो गया।

जिस प्रकार छायावाद द्विवेदीयुगीन स्थूलता तथा इतिवृत्तात्मकता के प्रति विद्रोह था उसी प्रकार प्रगतिवाद भी छायावादी कविता के प्रति विद्रोह था। छायावादी कविता और प्रगतिवादी कविता का अन्तर बताते हुए डा० नामवर सिंह ने लिखा हैं छायावाद से प्रगतिवाद इसी अर्थ में विशिष्ट है कि छायावादी जीवन–दृष्टि से अधिकांशतः कविता के क्षेत्र में ही व्यक्त होकर रह गयी। वहीं प्रगतिवादी जीवन दृष्टि प्राय सभी क्षेत्रों में अपनी अभिव्यञ्जना करने लगी,

वास्तव में प्रगतिवादी में मानवतावादी दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से काव्यकी आत्मा बन गया किन्तु विद्वानों ने उसका विरोध करते हुए इस प्रकार कहा १- यह सर्वदा अभारतीय और विदेशी विचारधारा है, २- यह बाद मार्क्सवादी विचार धारा पर आधारित हैं ३– राजनीतिक क्षेत्र में जो साम्यवाद है वही साहित्य–क्षेत्र में प्रगतिवाद है। ४– इसी प्रकार प्रगतिवाद का सूत्रपात प्रगतिशील लेखक संघसे हुआ है और यह संघ अब कम्युनिष्ट पार्टी द्वारा संचालित हुआ है अत: प्रगतिवाद की लगाम रुस के हाथ में है और इस प्रकार प्रगतिवाद पूर्ण रूपसे विदेशी ठहरता

है किन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दी में प्रगतिवाद पैदा हुआ १६३० के बाद इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रगतिवाद हिन्दी में ऐसे समय पर पैदा हुआ जब हिन्दी साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गयी थी।

प्रगतिवाद का स्वरूप

१– प्रगतिवाद स्वस्थ सामाजिकता' व्यापकभावभूमि और उच्च विचारों के निरन्तर विकास का इतिहास है २– राजनीतिक जागरण से लेकर जीवन की व्यापक समस्याओं तक इसकी पहुंच है ३– यथार्थवादी दृष्टिकोण ही इसका मुख्य दृष्टिकोण है ४– प्रगतिवाद की परम्परा नग्न यथार्थवाद को चित्रित करने से लेकर स्वस्थ यथार्थवाद को चित्रित करने तक रही। यह वहसाहित्य है जो लेखक की स्वयं भून्ते: प्रेरणा से उद्भून न होकर समाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से परिवर्तित और विकसित होता है। ५. प्रगतिवादी साहित्य में निम्नवर्ग को ऊंचा उठाने का प्रयास है।

प्रगतिवादी कवि

छायावाद के बाद प्रगतिवादी कविता को लिखने वाले कवियों की संख्या भी काफी है। चोहान साहब तो पन्त को ही प्रगतिवादी कविता का प्रवर्तक मानते हैं। डा.नामवरसिंह निराला को ही प्रगतिवादी काव्य-प्रवर्तकमानते हैं। प्रगतिवादी कवियों के मुख्यत: नाम ये हैं – नागार्जुन, शिव मंगल सिंह (सुमन) रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचन्द जैन, शम्भुनाथ सिंह आदि।

१ प्रगतिवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

मार्क्स तथा रूस का गुणगान

प्रगतिवादी कवियों के काव्य में मार्क्स की विचारधाराएँ ही श्रेष्ठ हैं। उनकी मान्यता है कि समस्त मानवीय भावनाए 'अर्थ' पर अवलम्बित हैं। इतना ही नहीं प्रगतिवादी कवियों ने तो मार्क्स की प्रशस्ति भी की हैं- 'धन्य मार्क्स चिर तमस्त्र- छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर' के द्वारा उन्होंने मार्क्स को साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर रख कर बैठा दिया है। इसके साथ ही रूस के लिए मजदूर और किसानों की ढाल बताया।

२ मानवतावादी दृष्टिकोण

मार्क्सवाद में मानव ही श्रेष्ठ प्राणी है। प्रगतिवाद कवि भी ईश्वर या देवी देवता के प्रति आस्था नहीं रखते वरन् वे तो मानव के पुजारी हैं। इन कवियों की दृष्टि में सारे संसार का मानव और उसका सुख-दुख है। पन्त ने भी इसी स्वर को मुखरित करते हुए कहा है –

'मानव-मानव हैं समान'

इनकी दृष्टि में जाति-पाति ऊँच-नीच तथा हिन्दू मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं है कुछ ऐसे कवि भी हैं जो अपने ही मजदूर किसानों का उद्धार चाहते हैं।

३ क्रांति की भावना

साम्यवादी विचार धारा की आत्मा ही क्रान्ति की भावना है। प्रगतिवाद साम्यवाद और मार्क्सवाद पर आधारित है इसलिए इसमें भी क्रान्ति की भावना पूर्णरूप से मुखरित हुई है अवर जीवन कवि से ऐसी तान सुनने के लिए कहते हैं कि जिससे उथल-पुथल मच जाये तो दूसरी ओर पन्त कोकिल को इस प्रकार पुकारते हैं —

आ कोकिल ! वर्षा पावक कण।
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ॥

४ शोषकों के प्रति रोष

प्रगतिवादी कवियों के मन में जो क्रांन्ति की भावना है। वह शोषकों के प्रति रोष और घृणा में परिवर्तित हो जाती है। शोषक वर्ग ही वह वर्ग है जो समाज में शोषितों को चूस रहा है इसीलिए प्रगतिवादी कवियों ने व्यापारियों उद्योगपतियों तथा पूंजीपतियों का विरोध किया है, एक कवि 'बेचेन' ने लिखा है —

मेरी कुटिया के आंगन की धूप को
कैद कर लिया
पास के तिमंजले मकान ने।

५ शोषितों का करूण गान

जहां प्रगतिवादी कवियों में ऐक ओर शोषकोंके प्रति रोष और घृणा की भावना दिखाई देती है वहीं दूसरी ओर शोषितों के प्रति दया और करूणा भी मजदूर, किसान और तिरस्कृतवर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति अधिक है। निरालाजी यदि इस प्रकार कह उठें (वह तोड़ती थी पत्थर इलाहाबाद के पथ पर) तो दूसरी ओर भी यह भावना भी मिली —

'वह आता'
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता'

यही नहीं मजदूर और किसान' को सम्बोधित करते हुए कई रचनाएं लिखी गयीं।

६ रूढ़ियों के प्रति विद्रोह

प्रगतिवादी कवि ने पहचान लिया कि मानव की कठिनाई का कारण सामाजिक रूढ़ियां ही हैं ये रूढ़ियां ही मानव को पतन की ओर ले जाती हैं और मानव के दुख का कारण बनती है कवि 'बंचेन' की ये पंक्तियां देखिये-

'आज तक इतिहास में जो भी पली हों।

रूढियों के वृक्ष की जड खोखली हों।

इस प्रकार कामना करते हुए कवि समस्त प्राचीन शृंखलाओं को तोड़ देना चाहता है।

७ यौन-भावना तथा नारी-स्वातन्त्र्य

प्रगतिवादी कवि नारी के शोषण को पसन्द नहीं करते। सदैव पुरूष नारी को अधिकार में रखता रहे, उन्हें यह भी स्वीकार नहीं है। किन्तु प्रगतिवादी कवि नारी को केवल वासना की तृति का साधन मानते हैं। इसी कारण यौन स्वातन्त्र्य को वे महत्त्व देते हैं। प्रगतिवादी कवि प्रेम को मानते ही नहीं। इस प्रकार की कविता में यही ध्वनि रही हैं --

' मुक्त करो नारी को '

८ सामाजिक समस्याओं का चित्रण

कवियों का लक्ष्य ऐसे काव्य की रचना करता रहा है जिसमें देश-विदेश की सामयिक समस्याओं का चित्रण हो सके। इस प्रकार की समस्याओं का चित्रण करने में कवि ने व्यंग्य को ही आधार बनाया है। नागार्जुन सरीखे कवि कह उठते हैं —

' कागज की आजादी मिलती
ले लो दो दो- आने में '

६ वेदना और निराशा का अभाव

प्रगतिवादी कवि आस्थावान है। उसमें आत्मविश्वास बहुत है संघर्षों से जूझता हुआ निराश नहीं है। प्रगतिवादी कवि स्वर्ग की मान्यता नहीं रखते, वरन् वे तो इस धरती में घर को ही स्वर्ग बनाना चाहते हैं।

इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य की विशेषताएं मार्क्सवाद या साम्यवादी विशेषताए ही हैं। प्रगतिवाद का हमारे देश में काफी विरोध हुआ किन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रदान करने का कार्य इसी काव्य का है। जो अत्यन्त सराहनीय है।

औपन्यासिक कला

[छात्र – प्रभात किशोर एम० ए० (हिन्दी) द्वितीय वर्ष]

कहा जाता है कि 'उपन्यास का सीधा सम्बन्ध मानव चरित्र की विविधता से है, अतः उपन्यास को समस्त वादों से पृथक रहकर मानव-चरित्र पर ही केन्द्रित रहना चाहिए !'

'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी की साहित्य-विधा 'नावेल'(NOVEL)का पर्याय-वाची है। अंग्रेजी में(NOVEL)का अर्थ है नया। फ्रांस में इसके लिए 'नोवास' का प्रयोग किया गया। जिसका अर्थ होता है 'यथार्थ चित्रण'। इटली में नोविले' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द कहां से आया इसमें मतभेद है। कई विद्वान मानते हैं कि यह इटली से आया तथा कई फ्रांस से आया मनते हैं। परन्तु हिन्दी में यह मूलतः अंग्रेजी साहित्य से आया है। क्लारा रीव ने लिखा है– 'उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है'। उपन्यास दैनिक जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का वर्णन करता है। जिनका हममें और हमारे मित्रों के जीवन में घटित होना सम्भव हो।

उपन्यास की परिभाषा—

'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' में उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है– 'वृहत आकार का गद्य-ख्यान या वृत्तान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रति-विधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यो को कथानक में चित्रित किया जाता है। क्रोसे के अनुसार—उपन्यास से अभिप्राय उस गद्यमय गल्पकथा से है, जिसमें वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण रहता है।

डा० श्याम सुन्दर दास के अनुसार–'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है'।

मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार—

'मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके मूल रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है'।—

उपन्यास का स्वरुप–उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है। उपन्यासकार का कर्म

बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। उपन्यासकार ही समाज को नवीन दिशाबोध कराने वाला होता है। अतः उसके लिए आवश्यक है कि वह तटस्थ दृष्टिकोण अपनाये और समस्त वादों तथा मतभेदों से दूर हटकर अपने निष्पक्ष विचार रखे। एक समीक्षक की तरह उपन्यासकार भी युग निर्माता होता है। उपन्यासकार जब मानव जीवन की सफलता और असफलता अन्तर्वेगों, सुख दुख आदि का वर्णन करता है तो यह बड़ा दुष्कर है कि वह उसमें लिप्त न हो। यही कारण है कि वह वर्तमान समस्याओं के प्रति भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्षतः अपना मत व्यक्त करता है।

उपन्यासों का वर्गीकरण--

वर्गीकरण का आधार प्रायः उपन्यास की विषय वस्तु, उसके तत्वों में किसी एक तत्व की प्रधानता और रचना शैली या शैली का रचना-विधान पक्ष रहा करता है और इस दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर करना उपयुक्त होगा।

विषय-वस्तु के आधार पर वर्गीकरण— इस दृष्टि से वर्गीकरण नितान्त स्थूल है। इसका आधार यह है कि उपन्यास की विषय-वस्तु किस प्रकार की है।

[१] ऐतिहासिक(*HISTORICAL*)उपन्यास-कथावस्तु इतिहास से ली जाती है। उसमें कल्पना का भी अंश रहता है। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'माधव जी सिंधिया' और 'झांसी की रानी' इसी वर्ग में आते हैं।]

२. सांस्कृतिक (*CULTURAL*) उपन्यास–इसकी पृष्ठ भूमि संस्कृति की होती है परन्तु इसमें ऐतिहासिकता के स्थान पर तत्कालीन संस्कृति का चित्रण ही प्रधान रहता है। विषय वस्तु का अधिकांश भाग कल्पित भी हो सकता है। आचार्य चतुर सेन का 'वैशाली की नगर वधू' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक उपन्यास है।

३. सामाजिक (*SOCIAL*) उपन्यास– इसमें समाज और उसकी समस्याओं का चित्रण रहता है। विषय वस्तु का सम्बन्ध समाज के जन जीवन से होता है। समाज में व्याप्त परम्पराए, रीतियां ही इसका प्रमुख विषय होता हैं। जयशंकर प्रसाद व प्रेम चन्द्र के सभी उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

४. मनोरंजन प्रधान उपन्यास—इनकी कथा वस्तु नितान्त काल्पनिक और कौतूहल–प्रधान रहती हैं। देवकी नन्दन खत्री के उपन्यास इसी वर्ग में आते हैं।

५. प्राकृतवादी उपन्यास – ये उपन्यास अतियथार्थ की भूमि पर आधारित रहते

 76030

है। 'दिल्ली का दलाल' 'चन्द हसीनों के खतूत, 'वेश्या पुत्र' उपन्यास इसी वर्ग में आयेगें।

६. आंचलिक उपन्यास – किन्ही विशेष अंचलों की पृष्ठ भूमि में लिखे जाते हैं। फणीश्वर नाथरेणु का 'मैला आंचल' इस प्रकार के उपन्यासों में अग्रणी है।

उपन्यासों का तत्वों के आधार पर वर्गीकरण– कथावस्तु, पात्र, सवाद, वातावरण, भाषा शैली और उद्देश्य उपन्यास के तत्व है। इनमे से किसी एक को विशेष रुप से प्रधानता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है इस दृष्टि से केवल दो भेद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

१. घटना प्रधान उपन्यास – इसमें कथातत्त्व की प्रधानता रहती है। इसमें घटनाओं की प्रधानता होती है और पात्रों की गौणता रहती है। इसमें चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान नही दिया जाता है।

२. चरित्र–प्रधान उपन्यास – इसमें चरित्र - चित्रण पर लेखक का ध्यान कथ्य की अपेक्षा अधिक रहता है। मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास इसी प्रकार के है।

रचना – शैली की दृष्टि स वर्गीकरण – इन्हे निम्न लिखित वर्गों में रखा जाता है।

१. वर्णनात्मक शैली के उपन्यास – इस प्रकार के उपन्यासों में लेखक स्वयं कथ्य का वर्णन करता है जैसे मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास।

२. आत्मकथा शैली के उपन्यास – इनमें कोई पात्र स्वय अपनी कहानी कहता है या अधिक पात्र अपनी– अपनी कहानी कहते हैं जैसे भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'चलते फिरते' उपन्यास।

३. डायरी शैली के उपन्यास – इस प्रकार के माध्यम से अधिक पात्रों की डायरिया से ही कथा का विकास होता है।

४. पत्रात्मक शैली के उपन्यास – इसमें पात्रों के पत्रों के द्वारा उपन्यासों का विकास होता है। 'चन्द हसीनों के खतूत' इसी प्रकार का उपन्यास है।

निष्कर्ष:– उपन्यासों की उक्त परिभाषा और वर्गीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास एक आधुनातन साहित्य - विधा है जो हिन्दी साहित्य के मानदंडो से निर्धारित रुपों की अभिव्यक्ति करती है। उपन्यास आजकल सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। किन्तु इस वर्गीकरण के लिये यह आवश्यक नही है कि एक उपन्यास में एक ही रूप पाया जाए। एक ही उपन्यास अनेक प्रकारों को स्वयं में समाहित कर लेता है।

—:o:—

सामयिक धर्म

छात्र– सन्तोष कुमार शास्त्री
एम० ए० [हिन्दी] प्रथम वर्ष

आज की विषमताओं से भरा हुआ यह युग पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। आज के मानव से यदि प्रश्न किया जाय कि आज का मानव सुखी है या दुःखी? तो उत्तर में यही मिलेगा कि मनुष्य अत्यन्त दुःखी है। यदि दुःख का कारण पूछा जाए तो सभी के विभिन्न मत होंगे। वास्तव में मानव दुःखी तो है और इसका प्रमुख कारण है समाज की स्थिति की विषमता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहने के लिये तथा अपने जीवन को उच्चतर में ले जाने के लिये समाज से कुछ सीखना पड़ता है। मनुष्य अकेले रहने में असमर्थ है क्योंकि उसे अनेक प्रकार की इच्छाएं तथा भावनाओं की पूर्ति के लिये दूसरों से सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार से सामाजिक जीवन में विचरने के लिए अनेक धार्मिक संस्थाएं खोली जाती है और उन्हीं संस्थाओं से प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरणायें मिलती हैं और व्यक्ति अनुभव करने लगता है कि समाज के बिना व्यक्ति नहीं रह सकता और न व्यक्ति के बिना समाज ही रह सकता है। ऐसी अन्योन्याश्रित स्थिति में दोनो के मूल सिद्धान्तों में समन्वय होना परम आवश्यक है। संसार में रहकर एकान्तिक जीवन बिताना निष्क्रिय जीवन बिताना है। योगी या सन्यासी भी परिवार का त्याग करते हैं परन्तु समाज का नही इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के लिए समाज में रहना अति आवश्यक है। तभी वह अपने जीवन को सही मार्ग में ले जा सकता है। यदि समाज में वह व्यक्ति रहेगा तो उसे समाज के नियमों का पालन करना आवश्यक होता है तथा समाज और ये दोनों समवाय है। समाज के बिना धर्म नहीं रह सकता और न धर्म के बिना समाज। इस प्रकार से हर एक प्राणी समाज और धर्म को अपनाता है क्योंकि धर्म ही समाज को ऊंचा उठाता है और समाज धर्म को। मनुष्य को समाज में चलने के लिए भी सामाजिक कार्य-कलापों की व्यवहारिकता के लिये धर्म का सहारा लेना पड़ता है। बिना धर्म के वह आगे कदापि नहीं बढ़ सकता है।

सामयिक धर्म का अर्थ है कि जो धर्म तत्कालीन समाज से बना हुआ हो और समाज उसे मान्यता देता हो। प्रत्येक व्यक्ति की धर्म समाज के धर्म से अलग न हो वही

सामयिक धर्म कहलाता है। यदि सामयिक धर्म प्रत्येक प्राणी या व्यक्ति की मानसिक उलझनों को नहीं सुलझा देता तो वह सामयिक धर्म नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार से धर्म का अर्थ है कि असत्य में से सत्य को अलग करके दिखा देना। दूसरों के उपकार एवं भलाई के लिये अपने अस्तित्व तक को मिटा देना यह एक धर्म है। परोपकार करना, दूसरों की सेवा करना भी धर्म है। सामयिक धर्म से मानव मात्र के हृदय में उच्च, उदात्त पुनीत एवं पवित्र भावना में जागृत होती। है व्यक्ति सात्विक प्रवृत्ति का बन जाता है। वह समाज-कल्याण के कार्यो, सहायता एवं सहानुभूति के कार्यों के करने का एक अधिकार प्राप्त कर लेता है। सामयिक धर्म को अपनाने वाला व्यक्ति भौतिक सुखों की अवहेलना करता है। अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता हैं परन्तु वह अपने कर्म-मार्ग से कभी भी विचलित नहीं होता है। सामयिक धर्म का धर्मावलम्बी अपने ईश्वर के अस्तित्व में अडिग आस्था रखता है, वह यह मानता है कि मनुष्य के अच्छे बुरे कर्मो का फल ईश्वर देता हैं इस लिए मनुष्य को सतकर्मों मे लगे रहते हुये विघ्न बाधाओं को पार करते हुये अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर पग बढ़ाते रहना चाहिये। इसी धर्म को लेकर आज के युग में अनेक धर्म के स्वरूप फैल गये हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो वह अनेक धर्मों के स्वरूप नहीं है वह तो केवल धर्म की अपने मतानुसार विद्वत वर्ग व्याख्या करते हुए, विभाग करते हुये उसे नया नाम रुप देते गये हैं। यह जितने भी नये धर्म बने थे समाज को ऊँचा उठाने के लिए ही बनाये गये थे, क्योंकि धर्म की व्याख्या तो थोड़ी है नहीं।

जितने भी धर्म ग्रन्थ तथा पन्थ बने बने हैं वे सभी उसी धर्म के मूलभूत अंश हैं। इस प्रकार से सामायिक धर्म प्रत्येक प्राणी से बना हुआ है। वह इस संसार के मानव मात्र ही नहीं बल्कि समस्त जीवधारी समाज के हृदय में सत्य की ज्योति जलाने वाला है। सामयिक धर्म वह होता है जिसे समाज अपनाये और जीवन की क्रिया-व्यवहारों में प्रयोग करे। जो धर्म प्रत्येकव्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति कर दे वही सामायिक धर्म कहा जाता है।

प्राचीन समय में भी इस धर्म का स्वरूप देखने को मिलता है। प्रारम्भिक समय में ऋषि महात्मओं ने समाज को सुखी, शान्ति और समृद्धि बनाने के लिये अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया करते थे। समाज को शाश्वत सुख और अनन्त शान्ति प्रदान करने के लिये ही तो महात्मा बुद्ध ने भिक्षु का स्वरूप धारण किया था। समाज की विश्रृङ्खलता एवं आडम्बरों को दूर करने के लिए ही तो कबीर ने निर्भीक

होकर समाज के चौराहे पर गर्जना की थी। इसी प्रकार से तुलसी दासजी ने भी लोक कल्याण की भावना से अपने 'रामचरित मानस' के माध्यम से समाज के विभिन्न स्तरो को सुदृढ़ बनाया था अर्थात् समय समय पर महानुभावों ने समाज के हितार्थ अनेक धर्म अनेक पन्थ और अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसी प्रकार से आज के धर्मावलम्बी भी समाज की चिन्ताकरते हुए मानवकल्याण की कामना करते है, सभी को सुखी समृद्ध और सम्पन्न देखना चाहते है। उनका विचार है कि सभी विकास की ओर बढ़ें। इसी में कल्याण है। उनकी समाज के प्रति यही इच्छा रहती है कि—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।'

अर्थात् सभी सुखी हो सभी निरोग हो, सभी कल्याण प्राप्त करें, किसी को कोई दुःख न प्राप्त हो। इस प्रकार की पुनीत भावनायें हमारे सामायिक धर्म में मिलती हैं।

सामयिक धर्म से हमें देश, जाति तथा समाज आदि की उन्नति करने तथा समाज को सुव्यवस्थित रूप देने का सहज तरीका मिलता है। धर्म ही समाज को सही रूप देता है। जैसे कि पहले कई शताब्दियों के पूर्व समाज में वर्ण—व्यवस्था जाति—व्यवस्था आदि थी जिससे कि समाज में कही भी उथल-पुथल नही होती थी। उसी प्रकार आज भी हमारे समाज में ये कुरीतिया दिखायी पड़ती है। वैसे तो हमारे मनीषियों ने बहुत कुछ समाज से इन सामाजिक रोगों को दूर कर दिया है परन्तु अभी पूर्णतः समाज निष्कलक नही हो सका है। आज की आर्त, दुखी और चिर-विपन्न जनता को सुख शान्ति प्रदान करने के लिए हमें सामयिक धर्म का पालन करनापरमावश्यक हो गया है। आज के युग मे मानव के चरित्र, बुद्धि एव स्वास्थ्य का ह्रास होता जा रहा है। वह असन्तोषी दुखी और अहकारी बन गया है। वह सत्य से असत्य अमृतत्व से मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। ऐसी सामाजिक विषमता के परिप्रेक्ष्य में सामयिक धर्म के सिद्धान्तों का हमें पुनर्मूल्यांकन करना होगा तभी समाज विकास की ओर अग्रसर होगा। प्राचीन युग बीत चुका है एवं नया युग अपनी चरम सीमा पर है। समय का परिवर्तन हो चुका है इसलिए हमें समाज में परिवर्तन लाना बहुत जरूरी हो गया हैं। भारत में अनेक धर्म होने के कारण समाज तथा देश में विकृति आ गयी है क्योंकि ये सभी धर्म अपने मूल सिद्धान्त को भूलकर सामाजिक एव राजनैतिक कुरीतियों को अपना चुके हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो इन सभी धर्मों का एक ही लक्ष्य है,परमात्मा की प्राप्ति एवं समाज को सुख समृद्धि तथा शान्ति प्रदान करना।

यदि समष्टि की दृष्टि से देखा जाय तो हमें यही प्रतीत होता है कि सामयिक धर्म से कुछ अंशों तक देश एवं समाज की उन्नति हो सकती है। सामयिक धर्म से समाज सुधार तथा देश को ऊँचा उठाने के लिए सत्भावनाएं आदि मिलती है। हमारे देश को पहले मुसलमानों ने फिर अंग्रेजों ने लूटा वे सभी यहां के धर्म का पतन कर गये थे परन्तु यहां का धर्म उनके चले जाने के पश्चात् पुन: अपने स्वरूप में आ गया है तथा अभी भी कुछ त्रुटियां हैं जो इस समाज को पूरी करनी हैं। यदि इन न्यूनताओं को पूरा करने वाला धर्म है तो वह सामयिक धर्म है। देश का मस्तक ऊँचा उठाने के लिए यहां का धर्म और संस्कृति बहुत ही महत्त्व पूर्ण हैं। सामयिक धर्म से सभी में एकता का संचार होता है। सभी में समान भावनाएं होती हैं। समाज एवं देश में प्रेम भाव उत्पन्न होता है। वे सभी अपने भाई बहनों के समान मानने वाले होते हैं। इस प्रकार यह हमारी सामाजिक उन्नति होती है और जब समाज की उन्नति होगी तो अवश्य ही देश की उन्नति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। देश की उन्नति होने से हम भी गौरवान्वित होगें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि धर्म से देश और समाज की तभी उन्नति हो सकती है जब कि भारत के निवासियों के साथ समता का व्यवहार किया जाय।

हमारा भारत– देश बहुत ही सौभाग्यशाली देश है क्योंकि यहाँ पर अनेक प्रकार के धर्म रहते हुये भी एकता ही दिखाई देती है। हमारे देश में मुस्लिम धर्म, सिक्ख धर्म आदि के अनुयायी पाए जाते हैं परन्तु सभी में एकता है। हिन्दुओं के धर्म भी किसी धर्मसे अलग नहीं हैं केवल सभीके अपने-अपने नियम कर्मों आदि की विधियां अलग अलग हैं। कोई धर्म किसी दूसरे धर्म को नहीं दबाता है। सभी धर्म अपने अपने नियमों का पालन करने में स्वतन्त्र हैं यहां पर कोई धर्म किसी धर्म को दबा नही सकता हैं यहां का प्रत्येक व्यक्ति किसी भी धर्म को अपना सकता है उसे कोई रोक-टोक नहीं है तथा इसी कारण से विदेशी लोगों ने भारत को 'बहुदेववादी' कहा है वास्तव में अगर देखा जाये तो जितने भी धर्म मत हैं सभी में एक ही परमेश्वर की प्राप्ति करने का उपाय बताया जाता है। जिस प्रकार किसी नगर को पहुंचने के लिये कई मार्ग होते हैं उसी प्रकार हमारे भारत के धर्म हैं। इन सभी में एकता तथा संगठन आदि देखने को मिलता है हमारा देश धर्म की एकता और पारस्परिक मेल से ही ऊँचा उठा है।

भारतवासियों का कर्तव्य है कि सामायिक धर्म की रक्षा करें और उसे ऊँचा उठायें तथा प्रचार करें एवं प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि अपने अपने जीवन में धर्म के नियमों का पालन करें और उन नियमों से अपनी और देश की उन्नति करें। भारत में जो भी एकता का अभाव है उसको पूरा करने के लिये कोई साधन बनाये जिससे वह कमी पूरी हो सके। हम लोगों का कर्तव्य है सामायिक धर्म की वास्तविकता को ठीक ठीक समझें और उसके अस्तित्व को प्रत्येक प्राणी के रग रग में भरदे, दूसरों के प्रति प्रेम की भावना जगा दे, जिससे असमानता तथा भेदभाव का नामो निशान तक मिट जाये।

इस प्रकार 'यह सामायिक धर्म' प्रत्येक व्यक्तिको एक सही मार्गों में ले जाने वाला है तथा इससे अपनी और समाज, देश, जाति आदि की भी उन्नति हो सकती है आजके मानव को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और "आत्मवत् सर्वभुतेषु 'जैसी पवित्र भावनाओं का उदय करना चाहिये हम लोगों का कर्तव्य है कि धर्म की रक्षाके लिए अनेक प्रकार की शैक्षिक संस्थाऐं खोलें जिससे समाज का भला हो देश की उन्नति हो। यह साम-यिक धर्म सभी में प्रेमभावना और कर्तव्य परायणता का मार्ग दर्शन कराता रहे यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है। एक समय था जब हमारे ऋषियों ने कहा था कि 'शं:नो अस्तु द्विपदे शंनोंअस्तु चतुष्पदे' इस वैदिक भावना से ही विश्व का कल्याण होगा।

हिन्दी एकांकी स्वरूप और विकास

ले०छात्र— राकेश दत्त एम० ए० (हिन्दी) द्वितीय वर्ष

एकांकी शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'एक अक वाला' हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के one act play से हुआ। हिन्दी के विद्वानों ने इस सम्बन्ध में एकांकी की व्याख्या अपने ढग से की है —

डा० रामकुमार वर्मा का मत है

एकांकी मे मुख्यतः किसी एक घटना या जीवन की कोई एक प्रमुख सवेदना होना चाहिए। उसका विकास कौतूहल-वर्धक नाटकीय शैली में होना चाहिए। तथा चरम सीमा पर पहुच कर उसका अन्त होना चाहिए।

प्रो० सदगुरुशरण अवस्थी के शब्दों में-

एकांकी में एक सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना परिस्थिति अथवा समस्या, वेग सम्पन्न प्रवाह और निदर्शन की चातुरी आवश्यक है। वे एकांकियों में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों, दृश्यों की अतिशयता, विषयान्तरता, वर्णन बाहुल्य, चरित्र-विकास के लम्बे प्रयोगो तथा उलझी कल्पनाओं को पसन्द नही करते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—ने एकांकी के लिए तीन बाते आवश्यक मानी हैं।

१- आकार की लघुता तथा समय की लघुता (३५ से ४५ मिनट की अवधि तक)

२- अभिनय शीलता।

३- रंग-संकेतों की स्पष्टता।

एकांकी में कथानक, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य, विचार और भावना आदि आवश्यक हैं इसके अतिरिक्त संकलनत्रय, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता रोचकता, अभिनयशीलता, तथा गतिशीलता भी आवश्यक हैं।

हिन्दी मे एकांकी-लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। इसके अतिरिक्त एकांकी भारतीय - ग्रन्थों में यत्र तत्र मिल जाते हैं। हां यदि हम गद्य और पद्य में कोई भेद न माने तो केशव की रामचन्द्रिका तथा तुलसी के रामचरित-मानस में अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, जो एकांकी का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

सन १८५० ई में मिले कुछ एकांकियों में जो अधिकतर पद्य रूप में मिलते हैं– 'इन्द्र सभा', 'बन्दर सभा' तथा 'मुछन्दर सभा' आदि उल्लेखनीय हैं ।

उन्वीसवीं शती में एकांकी पाश्चात्य एकांकी सेप्रभावित है किन्तु हिन्दी में गद्य पद्य एकांकियों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में होता है । इसकी प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ग्रहण की गई । भारतेन्दु ने एकांकियों के विभिन्न रूपों के विकास का प्रयत्न किया । उनके प्रमुख एकांकियों में धनजंय–विजय, पाखण्ड–विडम्बना वैदिकी हिंसा–हिंसा न भवति, विषमोषधम् (भांठा)अन्धेर नगरी(प्रहसन)प्रेम योगिनी आदि उल्लेखनीय है जिनमें कुछ अनूदित तथा कुछ अपूर्ण मौलिक है किन्तु उनके एकांकी प्राचीन ढग से लिखे गये हैं । उनके प्रहसन एकांकियों में समाज की रूढ़ियों, रीति–रिवाजों–सामाजिक एवम राष्ट्रीय बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है ।

भारते दु के अतिरिक्त उनके युग के प्रमुख एकांकी-कार देवकीनन्दन त्रिपाठी राधा चरण-गोस्वामी रत्न चन्द्र, किशोरी लाल गोस्वामी आदि है । इन एकांकीकारों के प्रमुख एकांकी कलयुगी–जनेऊ शिक्षादान, चौपट-पेट आदि हैं ।

द्विवदी-युग—में पाश्चात्य एकांकियों का प्रभाव परिलक्षित होने लगा जिससे उनके बाह्य तथा आन्तरिक रूप में थोड़ा–थोड़ा अन्तर आने लगा किन्तु एकांकियों की मूल आत्मा भारतेन्दु–युग से प्रभावित रही । द्विवेदी–युग के एकांकीकारों का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण तथा समाज–सुधार रहा । क्योंकि उस समय स्वतन्त्रता सग्राम छिड़ गया था । इस युग के प्रमुख एकांकियो में ब्रजलाल शास्त्री के भारतीय पत्रिका में प्रकाशित तारा, पन्न', दुर्गावती, नीला आदि प्रमुख हैं ।

राम सिंह के 'रेशमी रूमाल' – क्रिसमस [प्रहसन पर आधारित] बदरी नाथ भट्ट के 'रेगड़ समाचार के एडिटर की धूलदच्छना' रूप-नारायण पांडेय का 'मूर्ख-मण्डली ' बेचन शर्मा उग्र का चार बेचारे + प्रमुख एकांकी हैं ।

इसके अलावा इस युग के प्रमुख एकांकीकार मंगला–प्रसाद सरयू प्रसाद-मिश्र शिवराम दास गुप्त आदि हैं । इस युग के एकांकियों को विषयवस्तु की दृष्टि से चार भागों में बांटा जा सकता है ।

१ सामाजिक व्यंग्यात्मक २ राष्ट्रीय एतिहासिक ३ अनुवादित ४ धार्मिक-पौराणिक ।

पाश्चात्य शैली के आधार पर लिखे गये एकांकी जिन्हें हम 'आधुनिक एकांकी' कह सकते हैं । श्री प्रसाद ने एक घूंट एकांकी की रचना लगभग१९३०ई० में की जो नये ढंग का सर्व प्रथम आधुनिक एकांकी है । मौलिक एकांकियों

की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय 'डा० रामकुमार' वर्मा को दिया जा सकता है। उनके प्रमुख एकांकी 'बादल की मृत्यु है'। इसके बाद पृथ्वी राज की आंखें, चारूमित्रा, 'रेशमी टाई' ऋतुराज, इन्द्र-धनुष, रिमझिम, काम – कदला विभूति; दीपदान, बापू, रूप रंग, कौमुदी, महोत्सव आदि प्रमुख है।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने एकांकियों में सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक तथा धार्मिक समस्याओं पर विचार किया है। सामाजिक समस्याओं का चित्रण श्री ' उपेन्द्र नाथ अश्क , ने अपने एकांकियों में किया। व्यंग्य की तीखी – चोट करने में 'अश्क' की बराबरी हिन्दी का कोई एकांकी लेखक नहीं कर सकता।
उनके प्रमुख एकांकी ' मुहोब्बत, पापी, स्वागत, जोंक, चिलमन, खिड़की, लक्ष्मी का स्वागत आदि हैं ।

उदयशंकर भट्ट के 'दस हजार' वर निर्वाचन, स्त्री का हृदय आदि प्रमुख एकांकी हैं। उन्होंने ५० के लगभग एकांकी लिखे इसके पश्चात् भुवनेश्वर प्रसाद मिश्रा का नाम आता है। उन्होंने लगभग २५ एकांकी लिखें जिनमें 'मृत्यु' – प्रतिभा का विवाह, आजादी की नींद, 'अकबर' चगेज खां, आदि प्रमुख हैं।
सेठ, गोविन्द दास ने अपनी कलम को एतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं की तरफ मोड़ा तथा तथा सफलता प्राप्त की इनके 'नावक की नमाज' ' ईद और होली , कृषि यज्ञादि प्रमुख एकांकी हैं।

उपर्युक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त जगदीश चन्द्र, गणेश प्रसाद, गिरिजा कुमार माथुर हरिकृष्ण प्रेमी गोविन्द बल्लभ पन्त, डा० सत्यप्रकाश संगर, पृथ्वी राज आदि श्रेष्ठ विभूति हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है हिन्दी ऐकांकियों का भविष्य उज्जवल हैं। तथा यह साहित्यिक विधा, दिन दूनी रात-चौगुनी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है।

—:o:—

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

ले० छात्र– कमलापति शास्त्री
एम० ए० (हिन्दी) द्वितीय वर्ष

पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान अरस्तू का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे प्रसिद्ध नैतिक वादी दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे, साथ ही विश्व विजेता सिकन्दर के गुरु भी थे। उन्होने कई ग्रन्थों की रचना की जिसमें ज्ञान – विज्ञान के विविध विषयों का विवेचन किया गया है। उनके काव्य- कला- सम्बन्धी विचार काव्य- शास्त्र तथा भाषण शास्त्र से निबद्ध हैं।

अरस्तू ने महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, काव्य- सिद्धान्त का विवेचन करते हुए दो प्रसिद्ध काव्य सिद्धान्तों की स्थापन की।

१. अनुकृति या अनुकरण का सिद्धान्त,
२. भाव विवेचन या विरेचन सिद्धान्त,

अरस्तु का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत 'अनुकृति सिद्धान्त' है। वे अनुकृति को ही विभिन्न कलाओं का मूलाधार मानते हैं। यदि परिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करें तो यह कह सकते है कि अरस्तू के अनुसार काव्य की आत्मा अनुकृति है।

प्रयोग एवं अर्थ– अनुकरण शब्द, ग्रीक शब्द 'मिमेसिस' का अनुवाद है। यद्यपि इस शब्द का प्रयोग प्लेटों के पूर्व भी यूनानी आचार्यों ने किया था किन्तु उस पर विशेष बल देने का श्रेय प्लेटो को ही है।

प्लेटो का विश्वास था कि ईश्वर- जनित मूलादर्श ही वास्तविक सत्ता है और मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत है। यह स्थल जगत उसी सूक्ष्म जगत का अपूर्ण अनुकरण है। उसका विश्वास था कि यह दृश्य मान जगत वैचारिक आदर्श जगत की प्रति कृति है। उसका मत है — 'यदि परमात्मा है तो ब्राह्मण्ड उसकी अनुकृति है। यदि पदार्थ है तो उनकी प्रतिच्छायाए अनुकृतियां हैं। यदि मानवकृत शिल्प वस्तुए हैं तो उनके चित्र अनुकृतियां हैं।'

अरस्तू ने काव्य कला को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देखकर सौन्दर्य- शास्त्र की दृष्टि से देखा है। अरस्तू ने प्रत्येक कला – कृति को सौन्दर्य की वस्तू माना है। यही कारण है कि उन्होंने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त 'मिमेसिस' शब्द को स्वीकार किया पर उसे एक नवीन अर्थ प्रदान किया। प्लेटों ने अनुकरण शब्द का अर्थ हू- ब- हू नकल करने के अर्थ में किया था, परन्तु अरस्तू ने उसका

एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है।

'कविता सामान्यतया मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृतियों से उद्भूत हुई जान पड़ती है। इसमें से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति। कला प्रकृति का अनुसरण करती है।' अरस्तू ने ससार के स्थूल तथा गोचर रूपी नदी पर्वत, पशु आदि को प्रकृति माना। उन्होंने स्पष्ट लिखा— 'प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं।'

इस प्रकार अनुकरण एक सृजन-प्रक्रिया है। यदि कविता कृति का केवल दर्पण होती है तो वह हमें उससे अधिक नहीं दे है। हम कविता का आस्वादन इस लिए करते हैं कि वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति हमें नहीं दे सकती। अरस्तू ने कविता में अनुकरण का वह अर्थ ग्रहण किया जो आजकल तन्त्र या शिल्प का लिया जाता है। इस प्रकार अनुकरण वह तन्त्र या शिल्प है जिसके द्वारा कवि अपनी कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करता है।

अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक प्रकार की वस्तु का अनुकरण करता है- [१] जैसे वह थी या है, [२] जैसे वह कही या समझी जाती है [३] जैसे वे दोनों होनी चाहिए। इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण- सिद्धान्त भावानामय और कल्पनामय अनुकरण को मान कर चलता है।

अरस्तू का मत है कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एवं उच्चतर वस्तु है। ;

कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है अत काव्य में सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास में विशेष की",

इसलिए अरस्तु के काव्य एवं इतिहास सम्बन्धी विश्लेषण से यह विदित होता है कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावपरक अनुकरण से था न कि यथार्थ वस्तु परक प्रत्यांकन से।

अरस्तु ने लिखा है जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुख देता है उनका अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें भयंकर दुख देता है किन्तु उसका अनुकृत रुप हमें आनन्द प्रदान करता है।

इस प्रकार अरस्तू के विविध मतों का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस

निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अनुकरण से अरस्तु का तात्पर्य भावनापूर्ण अनुकरण से है यथार्थ प्रत्यांकन से नहीं । यह अनुकरण सुन्दर होगा, आनन्द प्रदान करेगा, पाठक के मन में उसकी वास्तविकता जागृत करेगा उसमें आदर्श तत्व भी होगा और व्यक्ति से सम्बन्ध होते हुए वह समष्टि गत सत्य का प्रतिपादन करेगा ।

अनुकृति सिद्धान्त की समीक्षा

इसीबात को अन्य विद्वानों ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है । अरस्तू के अनुकृति सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए प्रो० बूचर ने लिखा है "अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है – सादृश्य – विधाव अथवा मूल का पुनरुत्पादव सांकेतिक उल्लेखनीय नहीं । कला या कविता को मानव के सर्वव्यापक तत्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रचनात्मक प्रक्रिया मानता है ।"

पाट्स के अनुसार "अनुकरण का अर्थ है जीवन का पुन सर्जन ।"

एटकिन्स का मत है "प्राय: पुन: सृजन का दूसरा नाम अनुकरण है ।"

स्कांट जेम्स ने अनुकरण को कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण का पर्यायवाची माना है ।

डा० नगेन्द्र भारतीय काव्य – शास्त्र में अरस्तु के प्रथम काव्याता एवं समीक्षक हैं । उन्होंने अनुकृति- सिद्धान्त की व्याख्या एव समीक्षा करने का सफल प्रयास किया है । डा० नगेन्द्र ने अरस्तु के मत का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

१-अनुकरणके विषय का जीवन सम्बन्ध जीवनके बहिरंग नाम आकार धारी जड़-जंगम रूप से नहीं है , वरन् उसके अन्तरग अथवाअनुभूति एव कल्पना आदि से है ।

बहिरंग ऐव अन्तरंग में प्रधान बल अन्तरंग पर है क्योंकि अनुकरण वस्तु के यथार्थ तत्व का नहीं, अपितु प्रतीयमान वस्तु का किया जाता है ।

२-अनुकरण में आनन्द निहित होता है । अरस्तु अनुकरण में आत्मतत्व का प्रकाशन स्वीकार करते हैं परन्तु आत्मतत्व अकेला न होकर वस्तु तत्व के साथ साथ रहता है ।

इस प्रकार अरस्तु ने अनुकरण को प्लेटो आदि की भांति केवल स्थूल और तथा तथ्य अनुकरण नहीं माना इसमें वस्तु के बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग पर परवशेष बल दिया गया है इसमें पुननिर्माण तथा भावतत्व भी समाहित हैं ।

अनुकृति सिद्धान्त पर लगाये गये आक्षेप –

अनुकृति सिद्धान्त पर परवर्ती आलोचकों द्वारा अनेक आक्षेप लगाए गये हैं जिनमें निम्न दो प्रमुख हैं —

[१] परिधि का संकुचित होना

यहाँ कलाकार की अन्तर्चेतना को उतनी महत्व नहीं दिया गया जितना कि दिया जाना चाहिए था, साथ ही इस मतवाद में वस्तु परकता अधिक है भावपरकता नहीं। यहीं नहीं 'गीति-काव्य' पर 'अनुकृति-सिद्धांत' लागू ही नहीं हो पाता।

[२] शब्द का उपयुक्त न होना

अरस्तु ने अनुकरण का प्रयोग कलात्मक पुनर्निर्माण, पुनः सर्जन, सर्जना के आनन्द की अवस्थिति आदि अर्थों में किया है किन्तु यह शब्द इन अर्थों को ग्रहण करने में असमर्थ है अतः अनुपयुक्त है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त पर आक्षेप लगाये जाने पर भी काव्य-शास्त्र में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में-"इस प्रकार अरस्तु के मत में और भारतीय मत में समन्वय सम्भव है। दोनों का मूल मन्तव्य तत्वतः भिन्न नहीं है। अरस्तू के अनुकरण और भारतीय आचार्यों के सृजन इन दोनों का इन दोनों का ग्रहण प्रायः एक ही अर्थ में हो जाता है।

दिव्या : एक विवेचन

ले० डा. भगवानदेव पाण्डे
एम० ए० पी-एच० डी०
प्रवक्ता-हिन्दी-विभाग

साहित्य अपने काल एवं समाज का सजीव चित्रण होता है और इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्मविश्लेषण/ हम अपने भविष्य के प्रयोजन की सिद्धि के लिए इतिहास का चिन्तन करते हैं, ताकि आने वाली परिस्थतियों का सामना करने में अपने को सक्षम कर सकें। यशपाल जी ने इतिहास के इसी गुण का सहारा लेकर अपने उपन्यास 'दिव्या' के माध्यम से जीवन के संघर्ष को प्रस्तुत किया है।

लेखक ने मौर्योत्तर काल में व्याप्त ऊंच-नीच की भावना का उल्लेख करते हुए यह दिखलाया है कि जातिगत हीनता के बावजूद भी यदि कोई प्रयत्न करे तो अपने पूर्वजों के कर्मों को त्यागकर उच्च पद पाने का पात्र बन सकता है। आर्थिक महत्ता का समर्थन करते हुए इसमें यह दिखाया गया है कि दास भी धन सचय करके नगर श्रेष्ठी गणपति का प्रमुख मंत्रणादाता बन जाता है और जिसकी अवज्ञा कोई नहीं कर सकता लेखक द्वारा धन को भोग्यवस्तु मानकर भी इसकी महत्ता को अनदेखी नहीं की गयी है।

उस समय समाज में दो प्रकार के वर्ग थे, एक जो योग्यताओं तथा व्यक्ति के गुणों के आधार पर वर्ग भेद मानता था और दूसरा जातिगत भेद को ही श्रेष्ठ समझता था। परन्तु न्याय के सम्बन्ध में महाधर्मस्थ का विचार- 'धर्मस्थान कोई स्वयभू और स्वतंत्र वस्तु नहीं है. वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है. इतने समय पर्यन्त न्याय की व्यवस्था देते रहने से मैं यहीं समझ पाया हूं कि न्याय व्यवस्थ पक के अधीन है' यह स्पष्ट करता है कि न्याय पर राजा का अंकुश था जिसे वह अपने अनुकूल प्रभावित कर सकता था। इसका स्पष्ट प्रमाण धर्मस्थ का दिव्या को दिया गया यह उत्तर-'सिंह और मृग के एक साथ जल पीने का रूपक न्याय- व्यवस्था के प्रति आदर के लिए आवश्यक है, परन्तु सिंह और मृग का एक साथ जल पीना दोनों की परवशता से ही सम्भव है। स्वतन्त्र केवल उन्हें एक साथ जल पीने के लिए विवश करने वाला शासक है और उसकी इच्छा ही न्याय का आधार है." फिर भी उस युग में धर्मस्थ के न्याय के प्रति लोगों का विश्वास दृढ़ था. इसी आशा में पृथुसेन ने धर्मस्थ से न्याय पाना चाहा था. दिव्या से उसका कहा गया यह कथन :मैं वर्ण का न्याय नहीं, धर्म का न्याय चाहता हूं।

गण परिषद स्वार्थो का संघर्ष है, धर्मस्थान न्याय का आसन है." धार्मिक न्याय के प्रति जहां आदर का भाव प्रस्तुत करता है, वही गणपरिषद को स्वार्थियों का अड्डा निर्दिष्ट करता है।

उस युग में देश में विलास एवं अव्यवस्था व्याप्त थी। देश की किसी को चिन्ता नहीं थी। यद्यपि पृथुसेन देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण था फिर भी उसे देश की चिन्ता कम, प्रेयसी की चिंता अधिक थी और इसी चिन्ता से ग्रस्त वह अपनी प्रेयसी को दूसरों की बाहों में देखने के पूव ही मृत्यु द्वारा मुक्त हो जाना चाहता था परन्तु मृत्यु के पश्चात भी प्रेयसी के लिए उस दारुण विभीषिका की कल्पना उसे असह्य थी हम देखते हैं कि देश की रक्षा के लिये वह चिन्तित है और उसके उद्धार के लिए प्रयत्न रत भी दिखाई देता है, लेकिन दिव्या को एकान्त में पाकर अवसर का लाभ उठा लेने में नहीं हिचकता. यह सब उस काल के समाज एवं संस्कृति में व्याप्त विसंगति की देन है।

इस उपन्यास में राजनीतिक कुचक्रों का स्पष्ट चित्रण किया गया है धर्मस्थ के निर्णयका पालन केवल परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण ही किया जाता है। मौर्योत्तर काल कूटनीतिक चालों, छल छद्म आदि का अखाड़ा बन गया था। स्वार्थपूर्ति के लिए घृणित से घृणित कर्मों को करने में भी किसी को हिचकिचाहट न थी। पूरे समाजमें मधु लोलुपता व्याप्त थी। देश-प्रम की भावना का सर्वथा अभाव था। देश रक्षा का भार कुछ लोगों पर ही छोड़कर बाकी समाज निद्रित अवस्था में पड़ा था। कुछ ऐसा सीमित वर्ग था जो भोगलिप्सा के प्रति आकर्षित होते हुए भी अपने कर्तव्यों से उदासीन नही था। इस उपन्यास का कुछ चित्रण अस्वाभाविक लगता है, यथादिव्या का अस्वस्थता के बहाने से पृथुसेन के 'अंश' की रक्षा करना, लेकिन शायद उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए यह क्षम्य हो या फिर कहानी को आगे बढ़ने देने के लिए आवश्यक। दिव्या छिपकर पृथुसेन से मिलने जाती है लेकिन किसी अन्य का कब्जा एवं पहरा देखकर गर्भ का भेद खुल जाने से आत्मग्लानि से भरकर अपनी जीवन नौका को घटनाओं की तीव्र धारा में छोड़ देती है और भाग्य के सहारे कुल एवं महल का त्याग कर देती है।

एक तरफ दिव्या के साथ उपर्युक्त घटना घटती है, दूसरी ओर पृथुसेन दिव्या के लिए तड़प रहा है और अपने स्वभाव [अन्याय के प्रति उठ खड़े होने का] के अनुसार अपने और दिव्या के प्रेम की बात पिता से कह देता है, लेकिन पिता के यह समझा देने पर कि—'स्त्री जीवन की पूर्ति नही, जीवन की पूर्ति का एक उपकरण और साधन मात्र है। सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियां प्राप्त कर सकता है। संसार में बल ही प्रधान है; उसका सारा आदर्श पता नहीं कहां चला जाता है? दिव्या से की गई प्रतिज्ञा को भूलकर एवं आदर्शों की तिलांजलि देकर-स्त्री को

नीरस विषय और जीवन पथ की अरोचक बाधा मानकर अपने असाधारण बुद्धि और दूरदर्शी पिता के निर्देश से अपने को जीवन संघर्ष के लिए सन्नद्ध कर लेता है।

फिर आरम्भ होती है सामन्ती क्रूरता की कहानी, जिसमें छाया को अपनी माता के स्वामी स्नेह का मूल्य अपनी मौत से चुकाना पड़ता है, लेकिन यहां भी धर्मस्थ अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं और अपने पुत्र को भी दण्ड देते कहते हैं 'तुम अपने इस पाप का प्रायश्चित मुझे खोकर करो'। यहां एक बात खटकती है कि धर्मस्थ जैसा न्यायवादी भी द्राक्षासव के सहारे चलता है और जलकी अपेक्षा आसव से हीं सचेत होता है। हो सकता है यह भी उस परिस्थिति की देन है।

द्विजकन्या दिव्या गृहत्याग के बाद दास व्यवसायी श्रेष्ठी प्रतूल के हाथों में पड़ जाती है जहां उसका साथ धाभी से भी छूट जाता है श्रेष्ठी प्रतूल उसे मथुरापुरी के दास व्यापारी भूधर के हाथों बेच देता है जहां से पुरोहित चक्रधर ने अपने पशुपालन के लिए खरीद लिया दिव्या से वह दासी दारा बन जाती है। दुर्भाग्य वहां भी उसका साथ नहीं छोड़ता। वह अपने को पात्र से छलकी हुई उस बूंद के समान समझने लगती हैं जो सिर्फ सूखकर समाप्त हो जाने के लिए ही होती है। वह भिक्षुओं के उपदेश-दुखियों के लिए वैराग्य ही सुख है मानकर बौद्ध बिहार की तरफ भागती है लेकिन वहां भी आश्रय नहीं मिलता स्थविर के शब्द-वेश्या स्वतंत्र नारी है--को मानकर वह वेश्या भी बनने को चल देती है, लेकिन वहां पहुंचने से पूर्व ही मिली प्रताड़ना से जीवन मुक्ति के लिए आत्महत्या करने के उद्देश्य से यमुना के जल में कूद पड़ती है और अपने पुत्र की बलि देकर शूरसेन प्रदेश की जनपद कल्याणी रत्नप्रभा के यहां एक वेश्या नर्तकी के रुप में आश्रय पा जाती है।

रत्नप्रभा उसका नाम दारा से बदलकर अंशुमाला रख देती है। नाम बदलने के साथ ही दिव्या का संसार बदल जाता है। द्रव्य और विलास के प्रवाह में संगीत और नृत्य के भंवर में वह हंस- शावक की भांति अविक्षिप्त, निर्लिप्त तैरने लगी, लेकिन ऐसे भोग विलास के वातावरण में भी वह अपने दुखों से मुक्त न थी। उसकी मुस्कान और उसका लास्य केवल कला के कर्तव्य मात्र थे समाज से पृथक होते ही वह निस्संग और तटस्थ हो जाती। उसका मातृ हृदय पुत्र वियोग से व्याकुल था।

अंशुमाला यंत्रचालित सी अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठा से लगी रहती है। रत्नप्रभा अंशुमाला को अपनी प्रिय सखी मानकर उसके दुखों को दूर करने के लिए चिन्तित रहती है और ऐसी परिस्थति में उसे मूर्तिकार चार्वाक मारिश की याद आती है जिसके सम्बन्ध में उसकी धारणा है कि वह अपने विचारों से अंशु का अवसाद दूर कर सकता है। इसीलिए एकाएक मारिश को सामने पाकर रत्न-

प्रभा के नेत्र आह्लाद से चमक उठते है । वह अतिथि मारिश से उस बीत नर्तकी के सम्बन्ध में बतलाती है । फिर चारवाक मारिश तथा नर्तकी अंशुमाला द्वारा जीवन के प्रति भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जाते हैं मारिश अन्शु के विगत जीवन की स्मृति जगाकर उसके मन में द्वन्द्व पैदा कर देता है और उसकी तीन वर्षों में प्राप्त हुई स्थिरता को कुछ ही क्षणों में छिन्न भिन्न कर देता है . नारी का आकर्षण सिर्फ भोग्या का हैं अंशु के इस विचार का उत्तर देते मारिश कहता है कि नारी प्रकृति के विधान से नहीं समाज के विधान से भोग्य है प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रय है इसी तरह वेश्या स्वतन्त्र नारी हैं के सम्बन्ध में कहता हैं वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ती का साधन हें वेश्या जीवन की गति अर्थात 'काम' का उत्तोजक साधन है परन्तु परिणाम में स्वय उसका काम अर्थहीन वन्चित रहता है । उसकी कला दूसरों के जीवन में वासना की पूर्ति का अनुष्ठान के रुप में उपयोगी है । वह 'काम' के प्रश्न का साधम मात्र है । वह स्वय पूर्ति को हविश्य से वंचित है । उसकी स्वतंत्रता का भोग जब करता है । वह स्वय नहीं । वह केवल वंचना पाती है यह एक नारी जीवन की स्पष्ट झांकी है पर अन्शुमाला द्वारा जीवन की विफलता में भी वेश्या की आत्म निर्भरता— स्वीकार कर लेने से मारिश मथुरापुरी से प्रस्थान कर देता है । फिर एक दिन रुद्रधीर भी अन्शुमाला की ख्याति सुनकर रत्नप्रभा के प्रासाद में आता है और जिसे उसने जीवित होने की आशा नहीं की थी उस दिव्या को सजीव पाकर उसका अतीत अनुराग सहसा उमड़ पड़ता है और दिव्या की प्राप्ति के लिए उससे पत्नी बनने का वह आग्रह करता है लेकिन दिव्या के विनयपूर्वक असमर्थता प्रकट करने के कारण प्रतीक्षा करने को कहकर सागल लौट जाता है ।

नीचों के हाथ में अधिकार चले जाने पर समाज को नाना प्रकार के क्लेशों को भुगतना पड़ता है । मद्रदेश के नागरिक इसी क्लेश को महसूस करते हैं पृथुसेन ससार में शक्ति को ही एक मात्र सत्य मानकर निरंकुश शक्ति प्राप्त करना चाहता था क्योंकि सागल के जनसमाज को शक्ति और सामर्थ्य का आदर करने का अभ्यास था । शक्ति के सम्मुख मस्तक झुकाने से उन्हें अपने सिर पर संरक्षक की छत्रछाया का आश्वासन अनुभव होता था और अपने पराभव से परास्त हुआ अभिजात समाज गणराज्य की व्यवस्था के विषय से विरक्त होकर अपने प्रसादों की सीमा में सीमित रहकर भोगों में आत्म विस्तृत हो रहा था ।

एक ओर जहां मद्र के महारक गणपति की पोत्री गणपरिषद के सबाहक की की पुत्रबधू और महापराक्रमी सेनापति पृथुसेन की अर्धांगिनी सीरो काम्य भोगों का का भोग करती हुई अनेक युवा पुरुषों की बलिष्ठ भुजाओं में समाकर कोलि क्रीडा में संलग्न है तो दूसरी ओर पृथुसेन भी शक्ति प्राप्त करने के लिए सभी अपमान

जनक स्थितियों को पचाता हुआ अपने दूरदर्शी पिता के विचारों पर ही चलने का निश्चय करता है। यद्यपि उत्तेजक मद्य के चषक और लोलकामिनी के अगों का मर्दन उसके लिए आसक्ति और सन्तोष का विषय नहीं था पर वह उन्हे श्रान्ति निवारण और शारीरिक स्फूर्ति को उपाय समझकर उससे विरक्त नहीं हो सका फिर भी शक्ति संग्रह ही उसका लक्ष्य और मद्र का निरकुश शासन स्वप्न था। अपने को अभिजात कुल का सम्मान पाने की स्पर्धा के लिए निराहृत दास पुत्र से अधिक न समझ पाने के कारण उसमें उच्छृखलता बढ़ गई थी इसीलिए एक वेश्या नर्तकी के प्रति आकर्षण के कारण उसने चुनोती दे डाला कि मद्र में ऐसा कौन है जो सेनापति पृथूसेन की इच्छा का विरोध करेगा ?

समाज के अन्दर धीरे- धीरे विरोध की अग्नि सुलग रही थी, जिसे सिर्फ हवा देने की जरूरत थी। आचार्य रूद्रधीर ने अपने आगमन के साथ इन परिस्थि- तियोंका अवलोकन कर अभिजात वर्गके लोगों में चेतना लानेका कार्य किया। उसने कुलवर्गका इस प्रकार उद्बोधन किया—सघर्षसे विरक्त होकर व्यक्तिगत आत्मरक्षामें सन्तोष खोजना आत्महत्या है। भोग में आत्मविस्मृत होकर मनुष्य भोगका अधिकार खो बैठता है, भोग का अधिकार संघर्ष में सफलता से प्राप्त होता। जिसमें सागल के सभी द्विज सामन्तगण तथा मद्र की जनपद कल्याणी मल्लिका आदि संलग्न हैं, ऐसे एक षडयन्त्र के द्वारा रूद्र धीर गणपति का राजदण्ड सर्वार्थ भूमि को तथा गणपरिषद के संचालक एवं सचिव का आसन स्वयं ग्रहण कर लेता है। पृथुसेन भागकर बौद्धसंघाराम में शरण लेता है, और बाद में भिक्षु धर्म स्वीकार कर लेता हैं।

स्थाविर चीबुक के प्रयत्न से पृथुसेन तथा रूद्रधीर की शत्रुता समाप्त हो जाती है।

जनपद कल्याणी मल्लिका अपनी उत्तराधिकारिणी की खोज में निकल जाती है और भाग्य विडम्बना से दिव्या को ही उत्तराधिकारी बनाने के प्रयत्न में जुट जाती है पर अभिजात सामन्तवर्ग इसे वर्णाश्रम की व्यवस्था मानकर द्विजकन्या को वेश्यानर्तकी के आसन पर बैठने की अनुमति नहीं देता। दिव्या अभिषेक की वेदी से उतरकर निराश्रय सागल के राजपंथों से होती हुई नगर के बाहर चल देती हैं। उसे स्वीकार करने के लिए वर्णाश्रम के आचार्य रूद्रधीर निवेदन करते हैं। पर वह स्वत्वहीन होकर जीने की अपेक्षा हीन होकर आत्मनिर्भर होवा चाहती है। भिक्षु पृथुसेन को –'भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है ?' कहकर ठुकरा देती है और अन्तमें धर्मसघोंका विरोधी और वर्तमान जीने वाले मूर्तिकार चारवाक मारिश को –'आश्रय दो आर्य कहकर अपने को समर्पित कर देती है।

इस उपन्यास के माध्यम से यशपाल जी ने मौर्योत्तर काल की दशा का सजीव चित्रण किया हैं। उस काल में हुए संक्रमण के पीछे वास्तव में उस काल

का समाज ही दोषी था। अपनी विलासिता में इतना अधिक डूब गया था कि उस काल में जो कुछ भी हुआ वह कोई विशेष उल्लेखनीय घटना न थी। कर्तव्यों से च्युत होने से जो परिणाम होता हैं, वही मौर्योत्तर काल में हुआ।

लेखक ने मौर्योत्तर काल के धार्मिक संघर्षो का भी चित्रण अच्छे ढ़ग से किया है। वह काल धार्मिक संघर्षों का रणस्थल बन गया था। जिसका न तो कोई सिद्धान्त रह गया था और न उद्देश्य वह किसी भी निराश्रित की सहायता करने में अक्षम था अतः ऐसे वातावरण में एक शक्ति का उदय होना कोई आश्चर्य की बात नही थी, इसका लाभ ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने उठाया और विलासी जीवन तथा धार्मिक संघर्षो का एक सीमा तक समाधान भी किया। यशपाल जी इसीलिए अन्त में दिव्या को किसी धर्म के जाल में न पड़ देने के लिए ही धार्मिक संघों के विरोधी और वर्तमान में ही जीने वाले मूर्तिकार चारवाक मारिश को सौंप देते हैं। इसके पीछे लेखक की धार्मिक प्रपंचो से अलग हटकर एक नये परिवेष के सृजन की भावना दृष्टिगत होती है।

दिव्या के माध्यम से लेखक ने नारी जीवन के संघर्षों की कहानी प्रस्तुत की है। वह नारी जिसे समाज मे योग्य समझा जाता है जब संघर्ष करते-करते उच्चता पा लेती है तो सभी उसका आश्रयदाता बनने को तत्पर हो जाते है, जबकि संघर्ष के क्षणों में धर्म स्थान भी उसे आश्रय नहीं दे पाते. दिव्या नारी संघर्ष की प्रतिनिधि है, जो सर्वदा शोषिता रहकर अन्त मे अपने स्वत्व के लिऐ सबकी अवेहलना करके एक पथिक का आश्रय लेती है इस प्रकार नारी के हृद्गत विचारों एव दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप प्रस्तुत करने मे लेखक ने प्रशंसनीय प्रयास किया है।

काव्यतत्व

छात्र–कमलापति शास्त्री एम० ए० (हिन्दी) द्वितीय वर्ष

काव्य की आत्मा

आत्मा शब्द मूलतः दर्शन शास्त्र का है। इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है, यथा 'चेतन्यम् आत्मा' अर्थात 'चेतनता आत्मा है'। दूसरी व्याख्या है– 'ज्ञानधिकरणम् आत्मा' अर्थात आत्मा ज्ञान का अधिकरण अथवा आधार है, आत्मा का यह स्वरूप सभी प्राणियों के विशेषतः मानव शरीर को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है, अगर सीधे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि 'आत्मा' शब्द प्राण या चेतनता का पर्यायवाची है, जिसके बिना शरीर गतिहीन; फलतः निरर्थक हो जाता है। लगभग इसी 'प्राण' अर्थ में काव्य शास्त्र में भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु यहां वह वाचिक रूप में न होकर लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है और लक्ष्यार्थ है–काव्य का अनिवार्य तत्व।

काव्य शास्त्र में आत्मा

भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के अनिवार्य तत्व के रूप में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में आरम्भ हुआ प्रतीत होता है। भरत के 'नाट्य शास्त्र' भामह के 'काव्यलकार' अथवा दण्डी के 'काव्यादर्श' में काव्य की आत्मा – विषयक प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। काव्य के सन्दर्भ में 'आत्मा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कदाचित वामन ने ८वीं शताब्दी में किया। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए स्पष्ट शब्दो में घोषणा की - 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। तत्पश्चात अन्य अनेक आचार्यों ने अपने अपने द्रष्टिकोणों के अनुसार काव्य की आत्मा सम्बन्धी मतों की स्थापना की। काव्य के अनिवार्य तत्व की खोज के लिए आचार्य भरत मुनि से लेकर अन्तिम आचार्य पं० जगन्नाथ तक अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–

१ अलंकार–सम्प्रदाय २ रीति-सम्प्रदाय ३ ध्वनि-सम्प्रदाय ४ वक्रोति-सम्प्रदाय ५ औचित्य–सम्प्रदाय ६ रस सम्प्रदाय।

१ अलंकार सम्प्रदाय– भामह, दण्डी आदि अलकार वादियों ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं कहा, तो भी इन सबकी मान्यताओं से

स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवम् अनिवार्य तत्व मानते हैं। भामह के अनुसार 'रूपक आदि अलंकार' अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत हैं वे वैसे ही महत्वपूर्ण हैं जैसे किसी नारी का सुन्दर मुख की शोभा हेतु आभूषण

"रूपकादिरलंकारस्तथास्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥

आचार्य दण्डी काव्य के सभी शोभाकारक धर्मो को अलंकार नाम से अभिहित करते हैं–

"काव्य शोभकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते"।

इस दृष्टि से ध्वनि, रस, गुण सभी आदि तत्वों को अलकार में समावेश का प्रयोग किया गया है। अतः इन्होंने अलंकार का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। इसके अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार है, अथवा सौन्दर्य ही अलकार है और वह इसी रूप में काव्य की आत्मा माना गया है।

२ रीति सम्प्रदाय– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। उन्होंने कहा–
"विशिष्टा पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा"।

इस प्रकार वामन ने रीति और गुण को एक माना। इन्होंने कहा विशिष्ट पद रचना रीति है: रीति का सम्बन्ध गुणो से है और गुण ही काव्य की की आत्मा है। गुण की परिभाषा देते हुए इन्होंने बताया कि काव्य की शोभा करने वाले धर्म ही गुण हैं – "काव्यशोभाया कर्तारो धर्मागुणः"। गुण के साथ साथ इन्होंने अलंकार और इस के महत्व को स्वीकार किया "सौन्दर्यमलंकार" कह कर अलंकार के और "दीप्तिरसत्वं कान्तिः" कह कर रस के महत्व पर प्रकाश डाला। इस प्रकार आचार्य वामन ने अलंकार और रस के महत्व को स्वीकार करते हुए भी रीति को काव्य की आत्मा माना है:

३ ध्वनि सम्प्रदाय– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट रूप से काव्य की आत्म ध्वनि माना है–

"काव्यस्यात्माध्वनिरीति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावं जगदुर परे भाक्तमाहुस्तमन्ये" ।

ध्वनिवादी आचार्यो ने काव्य की आत्मा के रूप में रीति एवं अलंकार का खण्डन करके अलंकार को आभूषण मात्र था। रीति को संघटना मात्र के रुप में मान्यता प्रदान की।

ध्वनि–काव्य के तीन भेद माने गये:—

१ वस्तु–ध्वनि २ अलंकार–ध्वनि ३ रस-ध्वनि।

४ वक्रोक्ति सम्प्रदाय :– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक बक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना उन्होने कहा-

"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" ।

आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोति का अर्थ है–कवि कर्म कौशल से उत्पन्न वैचित्र्य पूर्ण कथन।

५ औचित्य–सम्प्रदाय :– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा माना है––

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् "

आचार्य क्षमेन्द्र से बहुत पूर्व आचार्य भरतमुनि ने औचित्य पर यह कह कर प्रकाश डाला था––"अनुचित स्थान का वेश विन्यास शोभाजनक नहीं होता यथा––वक्षस्थल पर करधनी का धारण करना परिहास ही उत्पन्न करता है"। औचित्य को काव्य रचना का एक विशेष गुण माना गया और इसे सभी सम्प्रदायों एवँ कवियोंके लिए अनिवार्य समझा गया।

६ रस–सम्प्रदाय काव्य की आत्मा की दृष्टि से रस–सम्प्रदाय के प्रवर्तक को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि ने रस का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट कहा—"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।" परवर्ती आचार्यों भामह, दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि ने भी रस को प्रमुख माना। अग्नि–पुराण का मत है–'जैसे त्याग के बिना लक्ष्मी सुशोभित नहीं होती, वैसे ही वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती। वाग्वैदग्ध्य प्रधान होने पर भी इन्होंने काव्य की आत्मा रस को ही माना है–

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।"

आचार्य राजेश्वर ने भी काव्य पुरुष के रूपक का निरूपण करते हुए शब्दार्थ को उसका शरीर तथा रस को उसकी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया यथा–"शब्दार्थौ ते शरीर रस आत्मा"। आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दों में रसात्मक

वाक्य को ही काव्य के रूप में माना है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।" इस प्रकार सभी विद्वानों ने रस की अनिवार्यता को स्वीकार किया।

हिन्दी आचार्यों का मत : संस्कृत काव्य शास्त्र की भांति हिन्दी काव्य-शास्त्र में काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों का जन्म तो नहीं हुआ पर हिन्दी में इन सम्प्रदायों की मान्यताओं का समर्थन अवश्य हुआ है। अलकार-सम्प्रदाय के सबसे प्रबल समर्थक हिन्दी में काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य केशवदास हुए। संस्कृताचार्य भामह मत का समर्थन करते हुए हिन्दी के आचार्य केशवदास ने काव्य के लिए अलकारों को आवश्यक माना। उन्होंने कहा—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सुरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।"

आचार्य कुलपति ने व्यंग्य को काव्य की आत्मा माना परन्तु आचार्य श्रीपति ने रस को काव्य की आत्मा माना। इसी प्रकार आचार्य देव ने भी शब्दार्थ को काव्य का शरीर और रस को उसका प्राणतत्व बताया—

"काव्य सार शब्दार्थ को, रस तोहि काव्य सुधार।"

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया—"रस ही कविता का प्राण है जो यथार्थ कवि है। उसकी कविता में रस अवश्य होता है" इस प्रकार हिन्दी के आचार्यों ने भी रस को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना।

पाश्चात्य आचार्यों का मत : पाश्चात्य आचार्यों ने भी काव्य की आत्मा की दृष्टि से विचार किया है। पाश्चात्य साहित्य में सम्प्रदायों का जन्म नहीं हुआ, न ही इन विद्वानों ने काव्य की आत्मा के विषय में व्यवस्थित तथा गम्भीर विवेचन किया है, फिरभी काव्य के अनिवार्य तत्वका उद्घाटन इन सभी विद्वानोंने पृथक-२ किया है। अरस्तू ने अनुकरण को काव्य के लिए आवश्यक माना तो हेरिस ने औचित्य को। इसी प्रकार विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के भी काव्य के आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डाला है।

निष्कर्ष— निष्कर्षतः कह सकते हैं कि अधिकांश विद्वानों ने रस को ही काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में तो काव्य की आत्मा की दृष्टि से पूर्व विवेचन प्राप्त नहीं होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने-अपने मत का समर्थन करने पर भी रस को आवश्यक माना है। वास्तव में किसी एक तत्त्व अलंकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति या औचित्य से काव्य की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। काव्य को रस ही उच्च कोटि तक पहुंचाता है। अतः अन्य सभी तत्त्व रस के अन्तर्गत आ जाते हैं। डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"रस, अलंकार रीति ध्वनि और वक्रोक्ति, ये पांच पृथक् सिद्धान्त नहीं है, वरन् मूलतः दो ही सिद्धान्त हैं—

रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्त्व देता है, दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।"

अतः रस ही काव्य की आत्मा सिद्ध होता है। रस विषयक दृष्टि-कोण ही सर्वाधिक व्यापक रहा है।

—:o:—

मध्य एशिया की संस्कृति में भारतीय विद्वानों का योगदान

—श्री० जबरसिंह सेंगर एम० ए०
प्रवक्ता, प्रा० भा० इतिहास विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रवेश गुप्तों से पूर्व हो चुका था। एक अनुमति के अनुमार अशोक ने अपनी पत्नी तिक्ष्यरक्षिता के क्रोध एवं आग्रह पर अपने पुत्र कुणाल का देश निष्कासन किया था जिसके परिणाम स्वरुप वह अपने साथियों सहित मध्य एशिया गया और उसने वहां उपनिवेशन किया तथा भारतीय संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी। प्रथम शती में चीनी सेनापति यान-चाम्रो ने कूचा पर आक्रमण करके उसको विजित कर लिया था जिसके परिणामस्वरुप भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इस सम्बन्ध में विद्वान पी० सी० बागची ने अपनी पुस्तक इण्डिया एण्ड चाइना में लिखा है :—

"The introduction of Budhism in China took place before beginning of the Cristian Era."

इसकी सम्पुष्टि प्रसिद्ध विद्वान वान नोबेले ने भी की है। उन्होंने भी बुद्ध धर्म के प्रवेश की तिथि प्रथम शती इ० माना है। इससे पूर्व भी हमें वेदों, रामायण एवं महाभारत में भी अनेक उदाहरण मिलते हैं कि भारतीयों का सम्बन्ध सांस्कृतिक क्षेत्र में पहिले से ही था पर मैंने अपने इस लेख में गुप्तों की महिमा को दर्शाना चाहा है। अत: इसी युग के आस-पास के सांस्कृतिक सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया। विद्वान नोबेल ने भी ईशा की प्रथम शती में बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश स्वीकार किया है।

चूंकि बौद्ध धर्म, शैव धर्म और वैष्णव धर्मों के मूल अंशों को लेकर समानता और अहिंसा के पथ की ओर अग्रसिरत हो रहा था इसलिए चीन के स्थानीय धर्म कन्फ्यूशियस और ताम्रों जो कि वंशवाद पर आधारित थे, को भी बौद्ध धर्म ने अपनी सहिष्णुता के आधार पर सजो लिया और बौद्ध धर्म ने अपना अस्तित्व बढ़ावा प्रारम्भ कर दिया था। इसका श्रेय हमारे भारतीय पण्डितो को है। भारत के पैगम्बर महात्मा बुद्ध के प्रभाव से भारतीय संस्कृति का विस्तार चीन में भी पहुंचने लगा। इसकी पुष्टि विद्वान वान नोबेले ने भी की है।

"Budhism never made China its uncontested home and never reign fried with typical Chinese Way of thinking. Budhism could not restrain confuniasm after a long period of prosperity end growth. Budhism and China had finally the Samefate as in India.'

चीनी शासक मिगती के समय में ६८ ई० में स्वप्न के आधार पर राज-दूतों द्वारा दो भारती मगध के निवासी पन्डित कश्यप मांतग और धर्मरक्ष नामक बौद्ध भिक्षु चीन ले जाये गये और उन्हें लोयांग (पौ-मासे) बिहार में सम्मानपूर्वक रखा गया जहां पर इन पन्डितों ने चीनी भाषा सीखकर भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का वहां की स्थायीय भाषा में अनुवाद करके लोगों को बौद्ध धर्म से परिचित कराया इसके पश्चात भारतीय पन्डित आर्यकाल, श्रमण, सुविनय तथा अस्थवीर आदि वहां जाते रहे। दूसरी शती में महाबल चीन गया, तीसरी शती में धर्मपाल गये और इस प्रकार भारतीय पन्डितों के जाने का तांता लगा रहा।

हानवश के समय बौद्ध धर्म चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था और तीसरी शती के अन्त में श्रेष्ठ बौद्ध ग्रन्थों के अनुवादक चीन गये थे जिनमें धर्म रक्ष, कांगसेकाई, धर्मसत्य धर्मभद्र आदि भारतीय पन्डितो ने जाकर वहां पर भारतीय संस्कृति, बौद्ध धम के माध्यम से तथा बौद्ध साहित्य का अनुवाद चीनी भाषा में करके बौद्ध धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

महान कुमार जीव ने कूचा और चीन में बौद्ध साहित्य का अनुवाद करके भारतीय संस्कृति के प्रसार में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। महात्मा बुद्ध का अवतार के रुप में जन्म लेकर इस विशाल वृहत्तर भारत में बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रसार में जितना महत्व है, वह कुमारजीव जैसे महान पंडित का ही योगदान कहा जा सकता है। इस विद्वान ने ९८ बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया तथा लोयम विहार एक अनुवादक मन्डल स्थापना करके भारतीय संस्कृति की जड़ें मजबूत की विद्वान पी०सी० बागची ने चीन के बाद बौद्ध धर्म स्थापन के बारे में कुमार जीव को ही विशेष महत्व दिया है। भारत की परम्परा रही है कि कोई भी विद्वान स्वार्थी नहीं अपितु 'इदन्न मम' का उपासक रहा है। कुमार जीव का जब अन्तिम समय था तो उनके शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि आपके पश्चात् किस दशा में चलना है। उनका अभिप्राय कुमार जीव की व्यक्तिगत पूजा से था। पर कुमार जीव ने कहा-कमल कीचड़ से उत्पन्न होता है, कमल की पूजा होती है, न कि कीचड़ की। अत: मेरे प्यारे शिष्यों तुम मेरे कार्यों को अथात् जो कार्य अच्छे हों, उन्हें आदर्श मान कर चलो, मेरे जीवन को नहीं।" यह था आदर्श भारतीय पण्डित का।

ऐसे आदर्श पण्डितों ने चीन में आकर बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। कुमारजीव ने काश्मीर में रह कर शिक्षा प्राप्त की थी। कुमार-जीव के सहयोगी भारतीय पण्डित धर्मरक्ष, संघभट्ट, गौतम संघदेव धर्मप्रिय और बुद्ध भद्र थे डा० चाऊसिक्यांग ने भी कुमारजीव के उपदेशों के सम्बन्ध में लिखा है: उसका उद्देश्य, उस परमात्मा की स्थापना करना था, जो मानवीय बुद्धि और अभिव्यक्ति परे है जो हमारी शब्दावली में अध्यात्मिक हैं।

कहने का तत्पर्य यह हैं कि उपरोक्त पंडितों के अतिरिक्त आठवीं-नवीं दसवीं शताब्दी में क्रमश भारतीय पंडित प्रतोघभद्, धर्मदेव, धर्मरक्ष आदि विद्वान चीन में जाते रहे। इसके वाद विशाल सामाज्य पुन छोटी छोटी सरदारियों में बंट गया और कुछ शासक बौद्ध धर्म को राजाश्रय देने लगे। परिणाम स्वरूप भारतीय पडितो का पुन तांता लग गया।

आठवीं श ी में राजा वुशुग, जो कि ताओ धर्म का समर्थक था- ने बौद्ध धर्म पर अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। अनेक नियम बनाये, जिनके आधार पर बौद्ध मन्दिर, 'मूर्तियां' और बौद्ध साहित्य नष्ट करवाया गया। बुद्ध की प्रजा अपराधी समझो जाने लगी: भिक्षु मार डाले गये। उनको विवाह के लिए वाध्य किया गया किन्तु यह अधिक समय तक न चल सका अत्याचार की एक सीमा और समय होता हैं। भगवान के यहां न्याय हैं व्यवस्था के अन्तर्गत राजा वुशुग गुमा होक स्वर्गवासी हुआ।

४५१ ई० युगवनति चीन का शासक बना, उसने अनेक बौद्ध मन्दिर और विहार बनवाये। अनेक भिक्षुओं को प्रश्रय दिया तथा उन्हे पुन भिक्षु जीवन के लिए प्रेरित किया। जो बौद्ध साहित्य वहां पूर्व शासक द्वारा नष्ट किए जा चूके थे, उन्हें भारतीय पडितों ने गुप्त शासकों की सहिष्णुता से पुन प्राप्त किया और वहां की स्थानीय भाषा में उन्हें अनूदित करवाया। इसी समय धार्मिक भावनाये प्रेरित होकर गुण कर्मन और उसके साथीचीन गये पांचवी शतीमें गुप्त शासकोंकी आज्ञा प्राप्तकरके गुणकर्मन चीन पहुचा था। यह अनुवादक एवं उपदेशक दोनों ही क्षेत्रोंमें पारंगत था इस विदान ने वहां भिक्षुणियों को भी प्रेरित किया और वहां भिक्षुणियों का समाज स्थापित हो गया। ६२९ ई० में जब ह्वेनसांग भारत आया था तो उसने भी शासकों के सहयोग और मध्य एशिया में राजदूतों तथा भारतीय पंडितों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को मध्यएशिया में पहुचाने आदि में उसका हाथ रहा है विशाव ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा वर्णन में चैनकुआग काल के शासक को उसका भी हाथ को एक पत्र लिखा था ... मैंने ५०,००० (१७०००,मील) ली से भी अधिक लम्बी यात्रा की है और अब परम्पराओं और रीतिरिवाजों के असंख्य विभेदों और और अगणित अपदाओं का सामना करने के बाद भगवान की अनुकम्पा से बिना किसी प्रकार की दुर्घटनो का शिकार बने स्वस्थ शरीर और अपने संकल्पों की

प्रीतिसे संतुष्ट मन के साथ वापस लौट कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हु मैंने गृद्धकूट पर्वत देखा है। बोधिवृक्षकी उपासना की है मैंने उन चिन्होंको देखा है जो पहले नहीं देखे थे। उन पवित्र शब्दों को सुना है जो पहले नहीं सुने थ उन आध्यात्मिक विभूतियों को देखा हैं जो प्रकृति के समस्त आश्चर्यो से बढ़कर है। अपने सम्राट के महान गुणो का साक्षी बना हूं और उनके लिए जनता का सम्मान और श्रद्धा अर्पित की है।

(इण्डिया एण्ड चाइना. पी०सी० बागची पृ० ७८—७९)

भारत से जो भी यात्री चीन गये, उस समय मुख्यत. दो स्थल मार्ग थे। एक कूचा वाला और दूसरा खोतन वाला मार्ग। इसलिए अनेक चीनी और भारतीय पन्डितों ने कूचा और खोतन में कुछ दिवस या माह बिताये और वहां अपनी सस्कृति की छाप छोड़ी। इसका परिणाम यह हुआ है कि मध्य एशिया के प्रमुख राज्य—खोतन, कूचा, तुरफान, काशगर कारशहर, टून-हुांग आदि स्थान बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र भारतीय संस्कृति के जीते जागते नगर स्थापित हो चुके थे।

प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण था कि मध्य एशिया में जब बौद्ध धर्म का प्रवेश पूर्ण रूपेण हो चुका था, दक्षिणी पूर्वी एशिया भी हिन्दू और बौद्ध धर्म से दीक्षित हो चुकी तो तिब्बत भारतीय सीमा से लगा होने पर भी वहां पर बाद्ध धर्म सातवी शताब्दी में क्यों पहुंचा और विलम्ब से पहुचने का कारण क्या था। मार्ग दुर्गम, जंगली जानवरो का आतक और व्यापारियों के आवागमन न होने से मार्ग की अनभिज्ञता ही इसके विलम्ब से पहुंचने का कारण रही होगी। पर जब सारे दक्षिणी पूर्वी एशिया, मध्य एशिया आदि में भारतीय संस्कृति ने अपनी जड़े जमा लीं तो भारतीय पन्डितों ने इस कोढ को भी समूल नष्ट करने ठानी और उन्होंने अपनी जान की बाजी लगाकर बौद्ध धर्म का प्रचार तीन युगों में किया :—

१. प्रथम युग : आरम्भ से— ५८० से ७६३ ई० तक परन्तु अनेक विद्वान इस काल से सहमत नहीं है और इसे ६२९ ई० मानकर चलते हैं।

२. दूसरा युग : शान्त— रक्षतयुग ७६३ ई० से ९९५ ई० तक।

३. तीसरा दीपकर युग : १०४२ से ११०२ ई० तक

सातवी शती में तिब्बत में सबसे पहले तिब्बत नरेश स्नो—वस्सन— स्गम-पो (सोंग- सेन – गम–पो) ने अपने महापात्र तान— मिने— सम्बाता को १६ व्यक्तियों के साथ भारत बौद्ध धर्म की प्रणाली का अध्ययन करने भारत भेजा। थान— मिने (तान- मि- सम्बाता) ने एक नई वर्ण माला पोखरी शिलालेख से मेल खाती हुई तैयार की। उस समय तिब्बत की राजधानी ल्हासा थी और वहां के

अभिलेखों से मोखरी के शिलालेख मेल खाते थे। इसके पश्चात सम्राट स्त्रोंबत्सोंग स्त्रघम– पो नामक शासक गद्दी पर बैठा। यह एक प्रतापी शासक था। यहां का स्थानीय धर्म मान धर्म था और एकदूसरे की भाषा की जानकारी के लिये नेपाली मंजु और काश्मीरी तुन नामक पन्डितों ने वहां पर अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। [चीन में बौद्ध धर्म राहुल सांस्कृतायन पृष्ठ ६ में]

दूसरा युग शान्त रक्षत युग कहलाता है। शान्त रक्षत ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया, लेकिन कुछ दुर्भाग्य ऐसा रहा कि जिस समय शांत रक्षक तिब्बत पहुंचा, वहां देवी प्रकोप से महामारी की बीमारी फैल गई। पान धर्मावलम्बियों ने यह प्रचार आरम्भ कर दिया कि ये देवी प्रकोप पान धर्म के विरोध के कारण हुआ है। इस विरोध को वहां का शासक व शांत कर सका। शासक शांत रक्षत से काफी प्रसन्न और प्रभावित भी था। शांत रक्षत ने राजा की स्थिति को देखकर स्वयं राजा को सुझाव दिया कि वह उसे वापिस भारत भेज दे और वहां से पद्मसम्भव को आमन्त्रित करे। राजा ने उसका यह सुझाव परिस्थितियांवश स्वीकार कर लिया। विद्वान शरदचन्द्र ने शान्त रक्षत की प्रशंसा में निम्न शब्द उद्धत किये हैं :—

"He was received by the Tibbetans with all the honours due to his high position as the syritual teacher of the king of MAGADH."

इसके पश्चात पद्मसम्भव ने आना स्वीकार किया क्योंकि वह बौद्ध धर्म के साथ - साथ तांत्रिक विद्याओं का भी अच्छा ज्ञाता था। आठवीं शती में इन्होंने तिब्बत में 'समेय' नामक स्थान पर एक विहार बनवाया और अपने चमत्कार से भूत–प्रेतों को पराजित करके बौद्ध धर्म की पुनः नींव डाली। तिब्बत में पद्म-सम्भव की बोधिसत्व के रुप में पूजा होने लगी और इसकी प्रशंसा चारों ओर फैल गई। विद्वान एल० ए० वेडल ने लिखा है– तिब्बत से गुरु पद्मसम्भव की विदाई उनकी जिन्दगी का चमत्कारिक व्यक्तित्व था।' यह अवस्था पद्मसम्भव की तिब्बत से भारत लोटते हुई थी और इसके बाद पुनः शान्त रक्षत तिब्बत बुलाए गए। शान्तरक्षत ने बौद्ध ग्रंथों का तिब्बत की स्थानीय भाषा में अनुवाद कर–वाया। विद्वान राहुल सांस्कृतायन के मतानुसार इस आचार्य की १०० वर्ष की घोडे के पैर चोट लगने के कारण मृत्यु हो गई औ इनका एक शारीरिक स्तूपतिब्बत में बनवाया गया। उसके बाद इनके शिष्य दपल• दबपइस (श्री घोष) संघ नायक बनकर पहुंचे और उन्होंदे भगवान बुद्ध के साथ साथ बोद्धिसत्व की पूजा को भी प्रोत्साहन दिया। पर इस निर्णय से भारतीय भिक्षुओं और चीनी भिक्षुओं में विवाद उठ खड़ा हुआ जिससे उन्हें भारत वापिस लौटना पड़ा। इसके बाद भारत से कमलशील नामक पन्डित तिब्बत गया। कमलशील और चीनी भिक्षु हांसुओं में

शास्त्रार्थ हुआ। कमलशील की विजय हुई। लेकिन कमलशील की चनी भिक्षुओं ने हत्या कर दी [देखिए राहुल सांस्कृतायन– तिब्बत में बौद्ध धर्म पृष्ठ १४] कमलशील को बोधिसत्व का अवतार माना जाने लगा। इनकी मृत्यु के बाद ज्ञानेन्द्र नामक भिक्षु ने भी निराहार से प्राण त्याग दिये। पर भारतीय पन्डित अपनी संस्कृति शान्तिगर्व, विशुद्धसिंह:, धर्मालोक आदि ने मिलकर बौद्ध प्रचार किया प्रचार किया और वहां की स्थानीय मोटी भाषा में बौद्ध ग्रंथों को अनुदित किया।

इसके पश्चात अन्तिम युग आता है जिसे हम स्वर्ण युग की संज्ञा देते हैं। ज्ञानदीपकर की पुजा वहां पर आज भी बोद्धिसत्व के रुप में होती है और आचार्य के नाम से आज भी ये विख्यात है। इस काल में अनेक बौध विहार और बौध मन्दिरों का निर्माण हुआ। भिक्षुओं के लिए राज्य की ओर से भिक्षा, भरण-पोषण आदि की व्यवस्था की गई। इसकाल मे जिनमित्र, दानशील, और बोधिमित्र जिन्होने नवीं शती में पहुचकर सबसे उल्लेखनी कार्य–अनुवाद कार्य सम्पन्न किया। इस काल में कुछ शासकों द्वारा राजाश्रय न मिल के कारणण बौधधर्म को ठेस भी पहुची लंग धर्म नामक शासक ने अनेक अत्याचार किये अत एक भिक्षु ने उसकी हत्या कर दी। इसके पश्चात पुन बौध धर्म अग्रसर होने लगा तिब्बत में भी राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में बट गया। विशाल साम्राज्य के अभाव में भी बौध धर्म की प्रगति को ठेस पहुची लेकिन ११ वीं शती के पूर्व आचार्य श्री ज्ञानदीपकर के के समय तिब्बत में बौध धर्म अपनी चरम सीमा तक पहुच गया और बौध साहित्य के लगभग सभी ग्रंथ वहां की स्थानीय भाषा मोटी अनूदित किये जा चुके थे साथ ही अनेक बौद्ध मन्दिरो, विहारों का निर्माण भी हो चुका था जिनको आज भी हम अपनी पुरानी सस्कार की यादगार मानते है।

इस प्रगतिशील में आज इस बात पुन आवश्यकता प्रतीत होती है कि मध्य एशिया में सांस्कृतिक सम्बन्ध पुन स्थापित किये जाये। आज का मनुष्य धार्मिक चेतना पुन: चाहता है पर आवश्यकता है सच्चे धार्मिक, निष्ठावान, त्यागी पन्डितों की–तभी पुन: बृहत्तर भारत की कल्पना साकार हो सकती है।

आभार

माननीय विजिटर महोदय
(डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

द्वारा विश्वविद्यालय का निरीक्षण ।

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने ही इस संस्था को विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता दिलायी थी तथा वे ही इसके प्रथम वाइसचान्सलर (कुलपति) रह चुके हैं। इस समय आप विजिटर के पद है। २६ अगस्त सन् १६८१ से आठ दिवस पर्यन्त आपने गुरुकुल परोसर में निवास किया और इसकी समस्याओं अध्ययन किया। और इसके पश्चात उन्होंने लिखित रुप से अपना विवरण प्रस्तुत किया। इसके कुछ अंश इस प्रकार हैं।

'यहाँ आकर मैंने देखा कि हर कोई न कोई व्यक्ति अपनी समस्याओं को लेकर खड़ा है'।

जो लोग गुरुकुल की उपज हैं, जो गुरुकुल का चला रहे हैं, जो गुरुकुल प्रबन्ध समितियों में हैं वे अपने बच्चों का भविष्य गुरुकुल के हाथों मे सोपने के लिए तैयार नहीं' हैं।

'शिक्षा सिर्फ आदर्शो के लिए नही है, शिक्षा जीवन की समस्याओ को हल करने के लिए सबसे पहले है।'

आज अगर यह कहने लगे कि हमे यूनीवर्सिटी का रूप त्यागकर जिस मन्जिल पर हम पहुच चुके है उसे छोड़ देना चाहिए यह बात न जचती है न मानने योग्य है

यह पत्रिका डा० सत्यव्रत सिद्धान्तलंकार के प्रति उनके स्पष्ट कथन एवं सनमार्ग दर्शन हेतु अत्यन्त आभार प्रकट करती हैं। उन्हे ही इस संस्था को ऊपर उठाने का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है सकट उत्पन्न होने पर सदैव इसकी रक्षा की है और आज भी कर रहे हैं :

इसके पश्चात यह मानवीय कुलाधिपति जी कुलपति जी कुलसचिव जी, उपकुल सचिव जी सहायक मुख्य अधिष्टाता जी, आचार्य जी विदान महाविद्यालय आचार्य जी वेद एवं कलामहाविद्यालय आचार्य जी राष्ट्रीय आयुर्वेद महाविद्यालय गुरूकुल कांगड़ी एवम वित्त अधिकारी जी तथा सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को हार्दिक धन्यवाद देती है।

सम्पादकीय वक्तव्य

प्रस्तुत पत्रिका का मुख्यत: छात्रों के हितार्थ है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही हैं कि इसमें उच्चकोटि की शोध सामग्री के लिए स्थान नहीं है। इसमें दोनों प्रकार की सामग्री का समन्वय है। इस विश्वविद्यालय ने सन १९७० से पी० एच० डी० उपाधि के लिए शोध कार्य भी हो रहा है और यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि सर्वाधिक शोध कार्य हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत ही हुआ है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिकांश शोध कार्य उच्चकोटि का है। इस समय इस विश्वविद्यालय के सभी विषय हिन्दी माध्यम से ही पढ़ाये जा रहे हैं, केवल गणित, विज्ञान तथा अंग्रेजी भाषा और साहित्य के लिए ही विषमता है उन्हें अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषा में कैसे पढ़ा जाए? यदि विकल्प होता तो छात्र उन्हें भी हिन्दी माध्यम से पढ़ना अधिक पसन्द करते।

आर्य समाज के मच पर एकत्र होने वाले सभी विद्वान जानते हैं कि महर्षि दयानन्द का आदेश था कि हिन्दी को आर्य भाषा मानकर अपना प्रचार कार्य हिन्दी में किया जाना चाहिए। आज तक भी उनके इस आदेश के विरूद्ध कुछ नहीं कहा गया है और वह सर्वमान्य है। आर्य समाज के कुछ प्रभावशाली नेतागण गुरूकुल शिक्षा प्रणाली में संस्कृत और वेद को प्रधानता देते हैं और हिन्दी में अध्ययन की उपेक्षा करते हुए दिखाई देते हैं। उनका यह मत समीचीन नही क्योंकि हिन्दी तो मातृ भाषा है। बिना मातृ भाषा का सुन्दर ज्ञान प्राप्त किये हम ज्ञान मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते। फिर उसके प्रति उपेक्षा भाव कैसा?

विद्वान कुलपति जी ने राष्ट्रभाषा के प्रति अपने सच्चे अनुराग के रूप में "प्रहलाद" पत्रिका प्रारम्भ की है। यह पत्रिका इसके लिए उनके प्रति अपना आभार प्रकट करती है।

उपर्युक्त निवेदन के साथ पत्रिका का यह संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। पत्रिका उन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है जिनका इस पत्रिका के प्रति अनुराग है।

--सम्पादक